# चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 17 अंक 1 जुलाई-सितम्बर 2019

*संस्थापक-सम्पादक*
बी. बी. कुमार

*संयुक्त सम्पादक*
शिवनारायण

**आस्था भारती**
**दिल्ली**

वार्षिक मूल्य :

| | |
|---|---|
| व्यक्तियों के लिए | 60.00 रूपए |
| संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए | 150.00 रूपए |
| विदेशों में | $ 15 |

*एक प्रति का मूल्य*

| | |
|---|---|
| व्यक्तियों के लिए | 20. 00 रूपए |
| संस्थाओं के लिए | 40.00 रूपए |
| विदेशों में | $ 4 |

*विज्ञापन दरें :*

| | |
|---|---|
| बाहरी कवर | 20,000.00 रूपए |
| अन्दर कवर | 15,000.00 रूपए |
| अन्दर पूरा पृष्ठ | 10,000.00 रूपए |
| अन्दर का आधा पृष्ठ | 7,000.00 रुपए |

प्रकाशन के लिए केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट्स
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
19/804 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवानिवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं।

# विषय-क्रम


*सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य* 5

1. पृथ्वी पुण्य गन्धवः 7
*प्रो. किशोरी लाल व्यास*

2. गाँधी विचार और आधुनिक हिन्दी कविता 12
*डॉ. शशि पंजाबी*

3. भारतीय संस्कृति में तुलसी पूर्व रामकथा 18
*डॉ. शिवनारायण*

4. कविता का समकाल 27
*अनिल कुमार पाण्डेय*

5. प्रवासी स्त्री-जीवन की दुश्वारियाँ 32
*सोनपाल सिंह*

6. विभाजन पर कुछ बातें 39
*सर्वेश्वर प्रताप सिंह*

7. भारतीय नारी की मार्मिक वेदना संदर्भ 'सिरी उपमा जोग' 51
*डॉ. प्रमोद कुमार यादव*

8. उपन्यास साहित्य में उत्तर-आधुनिकता 58
*रमेश चन्द सैनी*

9. समकालीन कविता पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव 63
*डॉ. अदिति सैकिया*

10. मानस का पुनर्पाठ 72
*शोभाकान्त झा*

11. सूरदास का 'भ्रमरगीत सार' 79
*डॉ. स्वाति सोनल*

12. भाषा और राष्ट्रीयता 84
*अखिलेश कुमार गौतम*

13. नई सदी में पुरुषार्थ की प्रासंगिकता 91
*डॉ. अमिता पाण्डेय*

14. यात्रा वृत्तान्त की यात्रा 102
*लोकेश कुमार*

15. ग्राम-स्वराज की प्रासंगिकता 107
*अरविन्द प्रसाद गोंड़*

16. साहित्य और सिनेमा 112
*डॉ. पिंकी पारीक*

17. भारतीय लोकतन्त्र में दलितों का योगदान 116
*डॉ. अनिल कुमार पासवान*

18. और अन्त में 120
साहित्य को होना होगा विज्ञान सम्मान
*बलराम*

19. प्रथम मिलन का प्रभाव 123
*सीताराम गुप्ता*

20. प्रतिक्रिया 127
*प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय*

# सम्पादकीय

## डॉ. कुमार की स्मृति को नमन

डॉ. बी.बी. कुमार नहीं रहे! सुनकर सहसा विश्वास नहीं होता! पर सच तो यही है कि 8 दिसम्बर, 2019 को उनका निधन हो गया! वे अस्वस्थ चल रहे थे, पर बाहर से देखने पर इतने भी अस्वस्थ नहीं दिखते थे कि इतनी जल्दी इस मायावी संसार को छोड़कर चले जाते! डॉ. कुमार अपने गहन चिन्तन, शोध और अध्ययनशीलता के बल पर उम्र को पछाड़ने वाले कर्मवीर योद्धा थे, लेकिन जाने कैसी विडम्बना बन आई कि उम्र ने ही उनकी अस्वस्थता से मैत्री कर उन्हें कायिक मात दे दी! कायिक मात भर ही, चिन्तन और चेतना के स्पर पर तो वे अविजित रहे!

डॉ. कुमार का सम्बन्ध (बिहार का उत्तर-पूर्वी जनपद) से है। वहीं उनका 1 जनवरी, 1941 ई. को जन्म हुआ। पले-बढ़े और देश-दुनिया को देखने-समझने की रोशनी पायी। रसायन विज्ञान से एम. एस-सी. की शिक्षा प्राप्त की और पूर्वोत्तर राज्य मेघालय के एक कॉलेज में रसायनविज्ञान के अध्यापक नियुक्त हुए। उस विषय में मन रमा नहीं तो नृविज्ञान और हिन्दी साहित्य में भी एम.ए. की डिग्रियाँ हासिल कीं। पूर्वोत्तर की भाषाओं पर काम करते हुए मानवविज्ञान की समझ को भाषाई चेतना के विकास से जोड़ते हुए देश-दुनिया के सभ्यताई द्वन्द्वों को जानने-समझने के लिए पूरा जीवन लगा दिया। मध्य एशिया पर फोकस किया। उन्होंने सौ से अधिक पुस्तकों की रचना की, जिनमें ताजी दो वृहत्काय पुस्तकों -'अण्डरस्टैन्डिंग इस्लाम' और 'इण्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया : ए शेयर्ड पास्ट' की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण मानी जाएगी। वास्तव में उनके दशकों के चिन्तन-मनन का वैचारिक नवनीत तो अब पुस्तकों के रूप में आना शुरू ही हुआ था कि काल के भँवर में वे कालातीत हो गए! अक्सर वे मुझसे कहते—'देश और समाज से बहुत कुछ कहना है। लिखना है, बहुत लिखना है। देश के शासकों ने जनता को ठगा है और अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए उसे अपने जाल में उलझाए रखा। भारत विश्व की बड़ी शक्ति रही है और भविष्य में भी बड़ी शक्ति बन सकती है, लेकिन ये...इसे समझ नहीं पा रहे, उनके चेहरे पर राष्ट्र निर्माण की वैचारिक चिन्ताएँ झलकतीं। कहते हुए मैं कहता—'यदि किन्हीं कारणों से आपके लिए लिखने की मनःस्थिति न बन रही हो तो मैं पटना में आपके व्याख्यान का प्रबन्ध कर सकता हूँ। आप अपनी बातें कीजिए, जो बाद में पुस्तक रूप में आ जाएँगी। भारत को आपके विचारों की आवश्यकता है, वे

तत्क्षण कहते—नहीं, मैं लिखूँगा। जीवन भर लिखता ही रहा। पूर्वोत्तर भारत के भाषाई सर्वे, शब्दकोश निर्माण आदि के द्वारा देश के मूल की पहचान करने में ही बहुत समय निकल गया। अब थोड़ा सेन्ट्रल एशिया को केन्द्रस्थ कर पूरी दुनिया की भाषा-संस्कृति और उसकी सभ्यताई अस्मिता के बरक्स एशिया मूल की सामाजिक संस्कृति का मन्थन करना चाहता हूँ। पता नहीं, कितना कर पाऊँगा, पर बचा हुआ समय उसी में लगाना चाहता हूँ।'

डॉ. कुमार जब कहते, समय की भी साँसें रुक जातीं। मुझे दो भागों में छपे उनके ग्रन्थ 'India's relations with central asia' का स्मरण हो गया। वे 'चिन्तन-सृजन' एवं 'Dialouge' का सम्पादन भी करते रहे थे। उन्होंने 'डॉयलॉग' का एक विशेषांक 'South-East Asia, China, Tibet Afghanistan, Bangladesh, Look East Policy'को लेकर निकाला था। डॉ. कुमार भारत की जातीय-व्यवस्था, संस्कृति, परम्परा, सामाजिक चिन्तन की दिशा, सभ्यताई द्वन्द्वों की रूप व्यवस्था आदि पर गहन चिन्तन करते। तद्विषयक उनकी अनगिन पुस्तकें भी प्रकाशित हैं। वास्तव में भारतीय चिन्तन परम्परा के वे ऐसे नृविज्ञानी थे, जिन्होंने भाषा और संस्कृति से जोड़कर मानव की विकास परम्परा को आख्यायित किया। उनका लम्बा समय पूर्वोत्तर में व्यतीत हो गया, इसलिए हिन्दी समाज के संज्ञान में वे आ नहीं पाए। मेघालय के कॉलेजों में वे लम्बे समय तक प्राचार्य रहे। अन्त समय में भारत सरकार ने उन्हें भारतीय समाजविज्ञान शोध संस्थान, नई दिल्ली के अध्यक्ष का दायित्व सौंपा, जहाँ वे पारम्पारिक सांस्थानिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन कर देश की युवा प्रतिभाओं को शोध के नए तेवर से जोड़ने का प्रयत्न कर रहे थे, लेकिन समय उनके हाथ से फिसल चुका था!

डॉ. कुमार ने अपने पूर्वोत्तर के साथी भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारी रहे श्री जे.एन.राय से मिलकर 'आस्था भारती' की स्थापना कर दो शोध पत्रिकाएं—'चिन्तन सृजन' (हिन्दी) और 'डॉयलॉग' (अंग्रेजी) का प्रकाशनारम्भ किया, जिसमें साहित्य, इतिहास, संस्कृति, नृविज्ञान आदि अनुशासनों के शोधपरक संलेखों का प्रकाशन होता है। उनकी योजनाओं में समाज के क्षेत्र में हो रहे शोध में गुणवत्ता लाने की योजना भी शामिल थी...पर मनुष्य की योजनाएँ अपनी जगह, लेकिन समय की गति का विधान अपना काम करता है। डॉ. कुमार अपने भौतिक रूप में नहीं रहे, इस यथार्थ को स्वीकार करते हुए उनके कार्यों को आगे बढ़ाने का संकल्प तो कर ही सकते हैं। 'आस्था भारती' के विद्वान कोषाध्यक्ष श्री जे.एन. राय सहित अन्य अधिकारियों के दिशा-निर्देश में हमारी कोशिश होगी कि हम सद्मार्ग पर बढ़ते हुए उनके संकल्पों को मूर्तरूप दें। इसी भावना के साथ हम डॉ. बी.बी. कुमार की पावन स्मृति को नमन करते हैं।

**—शिवनारायण**

# पृथ्वी पुण्य गन्धवः

प्रो. किशोरी लाल व्यास*

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में पृथ्वी ग्रह अपनी स्थिति, निर्मिति तथा वातावरण के कारण विशिष्ट है। जीवन निर्माण तथा जीवन धारणा के अनुकूल परिस्थितियाँ केवल इसी ग्रह में विद्यमान हैं। इसी नक्षत्र में पंचतत्त्वों का एक ऐसा सुनिश्चित समतोल है जिसके कारण जीवन की उत्पत्ति तथा संचालन हो सकता है। जल एवं वायु—दो ऐसे तत्त्व हैं जो जीवन के लिए अनिवार्य हैं। इन्हीं तत्त्वों से जीवन-संचालन होता है।

वस्तुतः जीवन की उत्पत्ति ही जल में हुई। जल ही जीवन है। प्राणियों के शरीर में 80 प्रतिशत भाग जल ही होता है। जल के माध्यम से ही सारी जैविक प्रक्रियाएँ (Biological Activities) सम्पन्न होती है। पृथ्वी हम सभी प्राणियों की माता है। इसलिए तो कहा गया है :—पृथ्वी माता पुत्रोहं पृथिव्या :— अथर्व 12/1/12

पृथ्वी गन्धवती-रसवती है। इसके अन्तर्गत षड्रस व्याप्त हैं—जो अन्न, फल, फूलों में व्याप्त हो जाते हैं। पृथ्वी ही अवनी है—इति अवनी अर्थात्—जो सबका आधार बनकर रक्षा करती है : इसी कारण पृथ्वी विष्णुरूपा है, वैष्णवी है, परिपोषक है, पालक है, बसुन्धरा है। पृथ्वी—वसूनि धारयति इति वसुधा अर्थात् जो बहुमूल्य वस्तुएँ सुवर्ण-रजत-रत्नादि धारण करती है, वह वसुन्धरा है। गो भी है पृथ्वी—गो अर्थात् गतिशील। पृथ्वी स्वयं अपनी धुरी पर घूमती हुई सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है। गतिशीलता ही पृथ्वी का प्राणतत्त्व है। 'भवतीति भूः' अर्थात् सत्तात्मक होने के कारण यह भूमि है।

अथर्ववेद में सर्वत्र पृथ्वी माता की अभ्यर्थना की गई है। जिस पर वृक्ष सम्पदा विराजित होती है उस धरती की हम प्रार्थना करते हैं—यस्या वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा। पृथिवी विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि।

—अथर्व 12/1/27

*प्रो. किशोरी लाल व्यास, पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद, पताः फ्लैट नं. 6, ब्लॉक संख्या 3, केन्द्रीय बिहार, मियापुर, हैदराबाद-500049, फोनः 040-23044660

जो पृथ्वी अनेक औषधियों को धारण करती है वह हमारे लिए शुभ हो—नाना वीर्या औषधीर्या विभर्ति पृथिवि न प्रयतां राध्यता नः।

*अथर्व 12/1/12*

वेदकालीन ऋषि-मुनि जल चक्र, पृथ्वी पर उपस्थिति वृक्ष-पादप-जीव-जन्तुओं के गहन सूक्ष्म अन्तःसम्बन्धों से परिचित थे। अतः अवनिमाता को नमन करते हुए कहते हैं ''अन्न उत्पन्न करने वाली, पचंभूतों से व्याप्त वर्षा के जल से सिंचित-पालित-हमारा पालन करे।''

*यस्यामन्नं ब्रीहियवौ यस्या इमा पंच कृष्टयः।*
*भूम्यै पर्जन्यपत्नयै नमोऽस्तु वर्ष भेदस्ते।।* *अथर्व 12/1/42*

पृथ्वी माता केवल जीवनदात्री व पालन-पोषण करने वाली ही नहीं, प्रत्युत जीवन में माधुर्य का संचार करने वाली भी है। सम्पूर्ण जीवन आनन्द की अभिव्यक्ति है। माधुर्य ही जीवन का सार है।

वल्लभाचार्य जी का 'पुष्टिमार्ग' इसी माधुर्य भाव इस—भाव का प्रतिपादन करता है। नित्य लीला ही आनन्द है। इस जगत् को मनुष्य ने हिंसा, अहंकार, युद्ध, विनाश और संहार के द्वारा भयानक बना दिया है। मूलतः जीवन का आनन्द की ओर लगातार ऊर्ध्वगमन है, चेतना का विस्तार है। जागतिक चेतना के साथ मानवीय चेतना का सामंजस्य है, संगति है, सह-संवेदन है। इसी संगति से दिव्य संगीत का जन्म होता है, यहीं 'अनहदनाद' है, यही 'सत् चित् आनन्द' की अनुभूति है। मानव का पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठ जाना, पशुवृत्तियों का उदात्तीकरण करना—यहीं भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है। इसी कारण पृथ्वी से मन्त्रद्रष्टा ऋषि मन 'मधुरता' की प्रार्थना करता है : ता न प्रजा सं दुहता समग्रा वाचो मधु पृथिवि देहि मह्यम्।

''सारी प्रजा मिलकर, सह-अस्तित्त्व का जीवन जिएँ, हे पृथिवी, वाणी की मधुरता मुझे प्रदान कर।'' अथर्व 12/1/16

पृथ्वी जल को धारण करती है। जल के सारे संसाधन नदी, तालाब, सरोवर, बावड़ी, झरने आदि पृथ्वी में ही अवस्थित हैं। अतः मनुष्यजाति का यह कर्तव्य है कि वह पृथ्वी को माता समझे। उसे गन्दा न करे। जल-संसाधनों को शुद्ध रखे। वृक्ष सम्पदा को नष्ट न करे। प्राणियों को अकारण न मारे। प्रकृति के कार्य-कलापों में अपनी ओर से हस्तक्षेप कर, उसका सन्तुलन ने बिगाड़े।

भारतीय संस्कृति में माता का मान सर्वोपरि है। माँ ही प्रथम गुरु है, माता ही साक्षात् ईश्वर है, अतः पूज्या है, आराध्या है। पृथ्वी भी माता है—माताओं की माता-आद्यमाता है। इसी कारण प्रातः उठते ही हम धरती पर पैर रखने के पहले उससे क्षमा-याचना करते हैं— 'समुद्रवसने देवी पर्वतस्तन मण्डले, विष्णुपत्नी नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे।'

धरती के प्रति पुनः उसी आराध्य भाव को हमें जगाना होगा। पर्यावरण संरक्षण के लिए यह भावनात्मक सम्मान दृष्टि अत्यन्त आवश्यक है। अपने पर्यावरण और परिसर को शुद्ध रखकर ही मनुष्य रख, शान्ति व समृद्धि प्राप्त कर सकता है। हमारी संस्कृति में 'यज्ञ' का विधान शुद्धि के लिए किया गया है। यज्ञ जहाँ बाहरी वातावरण को शुद्ध व सुगन्ध युक्त बनाता है, वहीं 'ध्यान' तथा 'योग' द्वारा अन्तः-प्रकृति को सन्तुलित रखा जा सकता है।

अन्तर्बाह्य का यह सामंजस्य एवं सन्तुलन ही हमारा अभीष्ट है। भारतीय संस्कृति पूर्णता में विश्वास करती है। यह पूर्णता 'यान्त्रिक नहीं' आंगिक पूर्णता है। जब सृष्टि के अंगांग पुष्ट होंगे, तभी सम्पूर्णता प्राप्त की जा सकेगी।

पर्यावरण संरक्षण का प्रश्न विश्वजनीन है। एक व्यक्ति, एक उद्योग या एक राष्ट्र के क्रिया-कलापों से सारा विश्व प्रभावित हो सकता है। हवाओं की तथा जल की—विकिरणों की तथा प्रदूषित तत्त्वों की कोई सीमा रेखा नहीं। एक देश से दूसरे देश में वे सहज की व्याप्त हो जाते हैं, अतः यदि कोई व्यक्ति या राष्ट्र यह सोचे कि वह तो प्रदूषण दूसरे देशों में फैलाकर स्वयं सुरक्षित है तो यह मात्र भ्रम है। शीघ्र ही प्रदूषण का जहर उसे भी लील लेगा। अतः पृथ्वी उपग्रह को एक मानकर, समग्र मानव-जाति के भविष्य पर विचार करने तथा सकारात्मक कार्यक्रमों को साकार रूप देने की नितान्त आवश्यकता है। मानव-जाति का भविष्य धरती से जुड़ा है, धरती के जैव-अजैव पदार्थों से आबद्ध है, अतः वह जितने उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से व्यवहार करेगा, उसका भावी (भविष्य) उतना ही सुरक्षित व सुख, शान्ति समृद्धि से परिपूर्ण होगा।

यह धरती मानव के साथ-साथ समस्त प्राणियों का एकमात्र आधार है। यह पयस्विनी है। इसके अन्तस्थल में जल का भण्डार है जिसे पादप ग्रहण करते हैं। धरती गन्धगुणोंवाली है। मनु महर्षि ने कहा है—गन्ध गुणा भूमिः, इस भूमि को हिरण्यगर्भा, हिरण्यवक्षा, वसुन्धरा, अवनि, विश्वम्भरा आदि विशेषणों द्वारा सम्बोधित करते हुए—बल प्रदान करने वाली कहा है—वेदमन्त्रकार ने :—विश्वम्भरा वसुधीनी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी, वैश्वनरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभ द्रविणे नो दधातु।

*अथर्व 12/1/61*

सबका पालन-पोषण करने वाली, अपने भीतर धन समाहित करने वाली, सभी प्राणियों की हितकारी हमें बल-बुद्धि प्रदान करे। जो माता हमारा पोषण करती है, उसे शुद्ध-पवित्र व स्वस्थ रखना हमारा सभी का पावन कर्तव्य है। पृथ्वी पर जो जीव-वैविध्य (Bio-diversity) है उसकी उसी रूप में रक्षा करनी होगी। हमारे प्राचीन वन-प्रदेश अनेक औषधियों के भण्डार हैं, वे जल के आगार हैं, नदियों के उदगम स्थल हैं, पृथ्वी माता के हरित आवरण हैं। हमें इनकी रक्षा करनी होगी।

मानव क्रिया-कलापों के दुष्परिणामों के रूप में प्रतिवर्ष पेड़-पौधों व पशु-पक्षियों की अनेक प्रजातियाँ (Species) सदा के लिए समाप्त (Extinct) होती जा रही हैं। 'ग्लोबल वार्मिंग' के कारण धरती का तापमान प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है। वर्षा कम और अनियमित होती जा रही है। सूखे की चपेट में विशाल भू-भाग आते जा रहे हैं, जल स्रोत सूख रहे हैं। घास-चारा तक मिलना दूभर होता जा रहा है। पशु-पक्षी भूख-प्यास से मर रहे हैं। रेगिस्तानों का विस्तार हो रहा है। प्राणियों के प्राकृतिक आवास (Habitat) लुप्त होते जा रहे हैं। नमी के अभाव में मृत धरती का विस्तार चिन्ता का विषय बनता जा रहा है। मेंढक, केंचुवे, गौरेया, गीध आदि अदृश्य होते जा रहे हैं।

मानवीय गतिविधियों से पृथ्वी के पर्यावरण को काफी तेजी से नुकसान हो रहा है, जिससे प्रकृति पर गम्भीर खतरा मँडरा रहा है। इन कारणों से पृथ्वी पर कई नई बीमारियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। विश्व के 95 देशों के 1360 पर्यावरणविदों ने एक शोध 'मिलेनियम इकोसिस्टम ऐससमेंट' में यह बात कही है।

इस रिपोर्ट में कहा गया है कि विश्व के सभी देशों में मानवीय गतिविधियों और प्रकृति के अधिक दोहन से प्रदूषण तथा जनसंख्या में बढ़ोत्तरी हुई है जिसका असर पानी से लेकर हवा पर भी पड़ा है। पारिस्थितिकी तन्त्र के दो-तिहाई हिस्से का दोहन हुआ है। इस रिपोर्ट में कहा गया है कि मानवीय गतिविधियों से प्राकृतिक संसाधनों पर बहुत ज्यादा दबाव पड़ रहा है। अगर यही रफ्तार रही तो आने वाली पीढ़ियों को देने के लिए इस धरती पर कुछ नहीं बचेगा। रिपोर्ट के अनुसार, इन्हीं गतिविधियों के चलते स्तनधारियों, पक्षियों और उभयचरों की 10 से 30 प्रतिशत प्रजातियाँ लुप्त होने के कगार पर हैं। पिछले 50 वर्षों में पृथ्वी के पर्यावरण में बहुत तेजी से बदलाव-भोजन, पानी, लकड़ी और ईंधन की बढ़ती माँगों के कारण आए हैं। रिपोर्ट के अनुसार 18वीं और 19वीं शताब्दी के मुकाबले पिछले 50 वर्षों में अधिक-से-अधिक जमीन को खेती योग्य जमीन में बदला गया।

रिपोर्ट में कहा गया है कि वातावरण के दूषित होने के दुष्परिणाम अगले 50 वर्षों में और भयावह हो जाएँगे। इस रिपोर्ट को तैयार करने में संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों के विशेषज्ञों सहित अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिकों और विकास संगठनों ने योगदान दिया है।

मनुष्य धरती को इस कदर बर्बाद करने पर तुला है और खतरों की ऐसी फसलें रोप रहा है कि बीमारियों की बाढ़ जैव-विविधता के विनाश और समुद्र में मौत की लहरों से प्रकृति एक झटके से तबाह हो जाए। ओस्लो में चल रहे एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में जारी की गई रिपोर्ट मानव हस्तक्षेप से पर्यावरणीय क्षति को इसी रूप में पेश करती है। 95 देशों के 1,360 विशेषज्ञों द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट बताती है कि जीवन का आधार समझे जाने वाले पारिस्थितिकी ;म्बवसवहलद्ध तन्त्र के दो-तिहाई

हिस्से को पिछले पचास सालों में अनियन्त्रित जनसंख्या ने प्रदूषण या अति दोहन से नष्ट कर दिया है।

रिपोर्ट के अनुसार साफ हवा और पेयजल की सबसे ज्यादा बरबादी हुई है। 'मिलेनियम ईकोसिस्टम एसेसमेंट' के 45 सदस्य बोर्ड के अनुसार रिपोर्ट की अन्तर्वस्तु में एक भयावह चेतावनी लिखी हुई है। बोर्ड ने कहा 'मानव गतिविधियों ने प्रकृति के कामकाज के ढंग को इस हद तक बिगाड़ दिया है कि आगामी पीढ़ियों को टिकाए रखने की धरती के पारिस्थितिकी (Ecology) तन्त्र की क्षमता पर ही सवाल खड़े हो गए हैं। स्तनधारियों, पक्षियों और भेक परिवार की 10 से 30 प्रतिशत प्राणियों के ऊपर विलुप्ति की तलवार लटक रही है। एसेसमेण्ट के अनुसार यह रिपोर्ट धरती के जीवन-वाहक तन्त्र की अब तक की सबसे विस्तृत समीक्षा है। रिपोर्ट बताती है कि पिछले पचास वर्षों के दौरान आदमी ने अपने भोजन, के लिए पशु-पक्षियों, मछलियों, आदि का बेतहाशा शिकार किया।

*'एक ही धरती हमें मिली है मिला है एक ही आसमान*
*मिला है एक ही वायु मंडल मिला है एक ही जल का कोश।।*

*जीवन के आधार हैं ये, इन्हें बचाएँ / एक सुन्दर स्वस्थ धरती बनाएँ!'*

उपभोक्तावाद तथा 'यूज एण्ड थ्रो' कल्चर ने मानव-जाति का भविष्य अनिश्चित बना दिया है। हमारे जीवन-विधान (Lifestyle) के बदलाव द्वारा ही हम धरती को बचा सकते हैं। यह पृथ्वी केवल मनुष्य की बपौती नहीं है। सारे प्राणियों को जीने का अधिकार है। मानव अधिकारों की तरह पशु-पक्षियों के अधिकारों की भी घोषणा होनी चाहिए। ●

# गाँधी विचार और आधुनिक हिन्दी कविता

डॉ. शशि पंजाबी*

साहित्य सर्जना के आरम्भिक काल में साहित्य को साहित्य के रूप में लिया जाता था, समझा जाता था, परन्तु क्रमशः युग बदले सभ्यता का विकास हुआ और मानव मस्तिष्क सोच के धरातल पर एक मानदण्ड भी बदले। चूँकि साहित्य की रचना शून्य में नहीं होती, अतः रचनाकार को संस्कार या विरासत में साहित्य की एक परम्परा मिलती है। हमारे देश में हर सौ-पचहत्तर वर्षों के अन्तराल पर चिन्तकों का आविर्भाव होता रहा है, जिसे युग-परिवर्तन के संकेत के रूप में ले लिया जाता है। गाँधी और मार्क्स ऐसे चिन्तकों के नाम हैं, जिनसे पूरा विश्व प्रभावित हुआ है और उनका जीवन-दर्शन समाज में प्रवाहित होता हुआ साहित्य में विचारधारा के रूप में कायम हो गया।

विचारधारा या तो सम्पूर्ण यथार्थ के अथवा उसके विभिन्न पहलुओं के नियमों का पता लगाने और फिर उन नियमों के आधार पर यथार्थ को रूपान्तरित करने पर जोर देती है। वह यथार्थ की जमीन पर पनपती है, किन्तु कालक्रम में वह यथार्थ को स्थापित कर खुवित्रता दि एक भौतिक शक्ति बन जाती है। जहाँ साहित्य का केन्द्र अनुभूति, स्वीकृति और संस्कार है, वहीं विचारधारा का केन्द्र नियम, नकार और निष्कासन है। मनुष्य के अस्तित्त्व की समग्रता के लिहाज से विचारधाराओं की निश्चय ही अपनी एक भूमिका है। चूँकि यथार्थ के अनेक आयाम हैं, इसलिए समाज में एक ही समय अनेक विचारधाराएँ क्रियाशील रहती हैं। साहित्य में उसकी कालजयी कृतियों में हम इस तरह किसी एक नहीं, बल्कि कई विचारधाराओं का साक्षात करते हैं।

गाँधी की विचार-पद्धति का व्यापक नाम है 'गाँधीवाद'। चूँकि गाँधीवाद के सम्बन्ध में मार्क्सवाद की तरह कोई व्यवस्थित शास्त्रीय अध्ययन नहीं है, इसी कारण उसमें किसी प्रकार की तर्कजन्य पद्धति का अभाव है। उसका आधार तर्क नहीं, स्वानुभूति है। इस विचारधारा का प्रत्येक खण्ड आत्मशक्ति को लेकर चलता है। इसी कारण उसमें एक प्रकार की आध्यात्मिकता और विचार स्वातन्त्र्य है। गाँधी विचारधारा

ऐसोसिएट प्रोफेसर, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद (गुजरात), सम्पर्क :-9904399976

का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि हमें साध्य के साथ-साथ साधन की पवित्रता का भी ध्यान रखना चाहिए। उनके सर्वोदय का अर्थ है सबकी उन्नति और उसका ध्येय है हृदय-परिवर्तन—अन्यायी, शोषक और अनीतिवान का। सत्य और अहिंसा दो आधार स्तम्भ हैं, त्याग और तप का प्राधान्य है गाँधीवाद में।

गाँधी का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में पड़ा। प्रत्यक्ष प्रभाव के प्रकार थे—(1) व्यक्तित्त्व और व्यक्तिगत उपलब्धियाँ (2) नैतिक आदर्श (3) सामाजिक राजनीतिक सिद्धान्त एवं कार्यक्रम। अप्रत्यक्ष प्रभाव के रूप थे—(1) जीवन और साहित्य के मूल्यों की नवीन व्याख्या (2) जीवन और साहित्य में लक्षित क्रिया-प्रतिक्रिया। गाँधी के व्यक्तित्त्व से प्रेरित होकर अनेक कवि पूरे दो दशकों तक उनकी व्यक्ति गरिमा का कविताओं में स्तवन कर श्रद्धासुमन अर्पित करते रहे। प्रगीत तथा लम्बी विचार कविताएँ लिखी गईं। कुछ महाकाव्यों और खण्डकाव्यों की भी रचना हुई—गाँधी-गौरव, जननायक, सेवाग्राम, जगदालोक, गाँधीचरितमानस, बापू तथा लोकायतन आदि। गाँधी का अपत्यक्ष प्रभाव अधिक सूक्ष्म और गहन था। गाँधी का वास्तविक योगदान जीवन और साहित्य के मूल्यों की पुनर्व्याख्या में निहित है।

जहाँ आधुनिक काल के कवियों ने गाँधी के प्रत्यक्ष प्रभाव में उनका गुणगान किया, प्रशस्ति की वहाँ अप्रत्यक्ष प्रभाव उनके विचारों को, जीवन-शैली को आत्मसात कर रचना में अभिव्यक्त हुआ है। जिससे रचना में गहनता आ गई है। गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रम जिन्हें बाद में सर्वोदय में उन्होंने समाहित कर दिया था, इन्हें आधार बनाकर अनेक कृतियों की रचना हुई। यहाँ तक कि प्राचीन कथानक भी इनसे अछूते नहीं रहे जैसे गुप्तजी के साकेत के नागरिक राम-वन-गमन के अवसर पर बाकायदा सत्याग्रह करते हैं। उनके भी राम मानव-सेवा हित अवतरित होते हैं—"मैं आया उनके हेतु कि जो शापित हैं, जो विवश, बलहीन दीन शापित हैं।" उर्मिला और कैकेयी भी, कैकेयी तो शुद्ध हृदय एवं उच्छवसित कण्ठ से पश्चाताप कर अपने चरित्र की निर्मलता और विशदता सम्पूर्ण चित्रकूट-सभा के समक्ष प्रमाणित कर देती है—

*'युग-युग तक चलतर रहे कठोर कहानी*
*रघुकूल में भी थी एक अभागिन रानी।'*

गाँधी द्वारा पिता के समक्ष की गई चोरी के प्रायश्चित के समान यहाँ कैकेयी का प्रजा के समक्ष प्रायश्चित उसके दोषों का प्रक्षालन कर देता है। इसी प्रकार हरिऔधजी के महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' में राधा-कृष्ण सम्बन्धों को नैतिक और आदर्शवादी मूल्यों के प्रकाश में समाज-सेवा वृत्ति के रूप में चित्रित किया गया है। राधा कृष्ण के सामीप्य का त्याग करने को तैयार है—"प्यारे जीवें जगहित करें गेह चाहे न आवें।' राजनीतिक उथल-पुथल और परिवर्तन की दृष्टि से गाँधीयुग विशेष महत्त्वपूर्ण है। लोकमान्य तिलक के पश्चात भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन

महात्मा गाँधी ने किया। साहित्यकारों पर उनके युग का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। गाँधीजी ने देशवासियों को बलिदान का ऐसा महामन्त्र दिया था कि पराधीनता के विद्रोह में जेल जाने तथा अनेक कष्ट सहन करने की क्षमता आ गई। गाँधी पर 'निःशस्त्र सेनानी' नामक प्रथम कविता लिखने वाले माखनलाल की कविता में बलिदान की भावना सबसे अधिक पुष्ट हुई है—

*'मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक।*
*मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक॥'*

गुप्तजी का मानना है कि युगीन परिस्थितियों के अनुरूप अपने विचारों को बदलने से बहुत-सी समस्याएँ दूर हो जाती हैं। गुप्तजी ने युगीन मूल्यों के साथ प्राचीन गौरवपूर्ण तत्त्वों का सन्तुलन किया है। अतीत चित्रण से सम्बन्धित गुप्तजी की मान्यताओं को जन्म देने में युगीन परिस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण रही हैं। रामायण को आधार बनाकर लिखी गई रचना 'साकेत' मुख्य रूप से मानव-जीवन और मानव-मूल्यों का काव्य है, जिसे युगीन परिस्थितियों के अनुसार नया रूप प्रदान किया गया है। गाँधी विचारों में स्वावलम्बी जीवन की झलक 'साकेत' की सीता के निम्न उद्‌गारों में व्यक्त हुई है—''औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ/अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ/श्रमवारि बिन्दु फल स्वास्थ्य शुक्ति फलती हूँ/अपने अंचल से व्यंजन आप झलती हूँ/श्रमवारि बिन्दु फल स्वास्थ्य शुक्ति फलती हूँ/अपने अँचल से व्यंजन आप झलती हूँ/तनु-लता-सफलता-स्वाद आज ही आया/मेरी कुटिया में राजभवन मन-भाया।''

हरिऔधजी के प्रिय-प्रवास के कृष्ण गाँधीयुग के एक उदात्त और कर्तव्यशील नायक हैं, जो सेवा और त्याग को जीवन का सर्वोपरि आदर्श मानते हैं। उनका पृथ्वी पर अवतरण समाज-सेवा, लोक-संस्कार और मानव-कल्याण के निमित हुआ है। अपूर्व आदर्श दिखा नरत्व का/प्रदान की है पशु को मनुष्यता/सिखा उन्होंने चित्त की समुच्चता/बना दिया सभ्य समय गोप को। (प्रियप्रवास)

'प्रियप्रवास' की राधा को हरिऔधजी ने परम्परागत विरहिणी नहीं बताया। वह अपने निजी दुःख को सारे समाज के दुःख में विलीन करती हुई समाज-सेवा का संकल्प धारण करती है। उन्होंने परम्परागत नायिका वर्गीकरण के स्थान पर देश-प्रेमिका, जन्म-भूमि प्रेमिका, लोक-सेविका, धर्म-सेविका इत्यादि नारी के नए रूपों की उद्‌भावना की। 'साकेत' में गुप्तजी ने उर्मिला और सीता के चरित्रों में नई विचार-भंगिमाओं की प्रतिष्ठा की है और समसामयिक आन्दोलनों में उनकी सक्रियता दर्शाई है, जैसे साकेत में सीता का सूत कातना—

*'तुम अर्द्धनग्न क्यों रहो अशेष समय में*
*आओ हम कातें बुने मिलन की लय में।'*

तत्कालीन सुधार आन्दोलनों, किसान-मजदूर आन्दोलनों की प्रतिध्वनि इस कविता में सुनाई देती है–

*'सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,*
*इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।'*

गाँधीजी के स्वराज की परिकल्पना को रामनरेश त्रिपाठी 'पथिक' कविता व्दारा व्यक्त करते हैं–

*'तुम अपने सुख के स्वराज के हो न पूर्ण अधिकारी*
*यह मनुष्यता पर कलंक है, हे प्रिय बन्धु तुम्हारी*
*अपना शासन आप करो तुम यही शान्ति है, सुख है*
*पराधीनता से बढ़ जग में नहीं दूसरा दुख है।'*

'अन्वेषण' शीर्षक कविता में उनका देशानुराग, दीनों और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति और मानवतावादी भावना व्यंजित हुई है–

*'मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुंज और वन में,*
*तू खोजता मुझे था तब दीन के सदन में।*
*मेरे लिए खड़ा था दुखियों के व्दार पर तू,*
*मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।'*

माखनलाल प्रमुख रूप से राष्ट्रीय भावधारा के कवि हैं। जिस युग में उन्होंने लेखनी उठाई, वह युग स्वाधीनता के लिए लड़े जा रहे संग्रामों का युग था। वातावरण में देशभक्ति और उत्सर्ग के गीत गूँज रहे थे। ऐसे युग में किसी जागरूक और संवेदनशील कवि के लिए युगधर्म की उपेक्षा करना कैसे सम्भव हो सकता था? चतुर्वेदीजी के 'एक भारतीय आत्मा' उपनाम की सार्थकता पर टिप्पणी करते हुए श्री नवल किशोर गौड़ ने कहा है–''यदि भारतेन्दु की वाणी राष्ट्र के अधरों की वाणी है, मैथिलीशरण गुप्त की वाणी राष्ट्र के कण्ठ की वाणी है, तो पण्डित माखनलान चतुर्वेदी की वाणी राष्ट्र के मर्म की वाणी है।'' बलिदान को जीवन की चरम सार्थकता मानने वाले कवि माखनलाल देशप्रेम की भावना और मातृभूमि पर न्यौछावर होने की साध में 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता द्वारा व्यक्त करते हैं। जो सम्भवतः उनकी सबसे अधिक लोकप्रिय रचना है–''चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।'' चतुर्वेदीजी सत्याग्रहियों को अहिसंक सैनिक मानते हैं। उनके अनुसार कारागार का कष्ट अभीष्ट है, लेकिन हथियार का प्रयोग निषिद्ध है–''पलट जाए चाहे संसार, न लूँगा इन हाथों हथियार।''

सियारामशरण गुप्त मूलतः गाँधीवाद से प्रभावित कवि हैं। उनकी आर्द्रा, अनाथ, दैनिकी आदि में गाँधीवाद से प्रभावित उनकी सामाजिक और विश्वव्याप्त

व्यथा को अभिव्यक्ति मिली है। उनकी रचनाओं में गाँधीवाद के तत्त्वचिन्तन का विचारात्मक रूप भी मिलता है। इस दृष्टि से उनका उन्मुक्त गीत नाट्य प्रतिनिधि रचना है। इसमें गाँधीजी की अहिंसावादी विचारधारा के माध्यम से विश्वयुद्ध से त्रस्त मानव के लिए एक सन्देश है–

*'हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,*
*जो सबका है, वहीं हमारा भी मंगल है।*
*मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर,*
*हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।'*

पन्तजी का 'लोकायतन' महाकाव्य उनके विचारों-आदर्शों का समन्वित रूप है। स्वयं पन्तजी के शब्दों में लोकायतन नए जीवन-मूल्य और भावी मानव-चेतना का काव्य है। अपने दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए आगे पन्तजी कहते हैं–''लोकायतन सहस्रशीर्ष, सहस्रबाहु, सहस्त्रपाद लोकपुरुष के विश्वजीवन का काव्य है।'' लोकायतन की सबसे बड़ी नवीनता उसके पात्रों की रचना की है। वो चाहे फिर बंशी हो या माधोगुरु, हरि हो या शंकर या संयुक्ता सब इस लोक और युग के ही चरित्र हैं, पर जिनका मानसिक धरातल गाँधीविचारों का है। ये पात्र इस धूल-भरी धरती पर रहकर ही जीवन में सेवा और मानवीय रागों को परिशोधित करने का अनुष्ठान करते हैं।

प्रसाद की कामायनी में औद्योगीकरण से कुटीर उद्योगों के आहत होने की गाँधीवादी विचारधारा का समर्थन है–

*'प्रकृति-शक्ति, तुमने मन्त्रों से सबकी कीनी*
*शोषण कर जीवनी बना दी, जर्जर झीनी।'*

गाँधीजी उन उद्योगों और यन्त्रों के विरोधी नहीं थे, जो लोक-कन्याणकारी हों बल्कि वे तो उन उद्योगों और यन्त्रों का बहिष्कार करते थे, जो गरीब जनता का हाथ काट लेती है। उनके अनुसार–''सबकी भलाई के लिए किए गए प्रत्येक आविष्कार का मैं आदर करूँगा, किन्तु उनका उन मशीनों के प्रति विरोध है, जो करोड़ों गरीब जनता के शोषण का कारण हैं।'' कामायनी में ही श्रद्धा द्वारा तकली कतवाना और हिंसा का सतर्क विरोध भी दर्शाया गया है। दिनकर ने अपनी कविताओं में गाँधीजी का पूर्ण श्रद्धाभाव से स्तवन किया। हालाँकि आरम्भ में दिनकरजी मार्क्स की क्रान्ति से प्रभावित थे। उन्होंने रूस के लाल झण्डे की जय का उद्घोष किया है। लेकिन भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी आस्था और उनकी आस्तिकता ने उन्हें आगे नहीं बढ़ने दिया। ऐसी स्थिति में दिनकर ने गाँधीवाद के तत्त्वचिन्तन के आधार पर नव-जागरण का सन्देश दिया है। भारत के अतीत गौरव से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने उसके अनुरूप ही 'कुरुक्षेत्र' में एक अभिनव सभ्यता की व्यवस्था की है। उसमें उन्होंने स्वदेश और विश्व के कल्याण पर एक साथ विचार किया है और इसके लिए उन्होंने

जो योजना प्रस्तुत की है उसमें भारतीय संस्कृति और गाँधीवाद का स्वर एक साथ गूँज उठा है। विश्व-शान्ति की समस्या पर भीष्म के इन विचारों में गाँधीवादी विचार की स्पष्ट झलक दिखाई देती है—

*'आशा के प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज/एक दिन होगी मुक्त भूमि*
*रण-भीति से।/भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त/सेवित रहेगा*
*नहीं जीवन अनीति से।/हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और,/*
*तेज न बढ़ेगा किसी मानव की जीति से।/स्नेह बलिदान होंगे पाप*
*नरता के एक,/धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।'*

गाँधीजी की महिमा और उनके अमृत स्पर्श से द्विवेदी युगीन कवियों से लेकर आधुनिक युग के सभी कवि प्रभावित हुए हैं। किसी ने उनके व्यक्तित्त्व को सहेजा है, तो किसी ने उनके विचार को सँजोया है, लेकिन वर्तमान में देशवासियों तथा देशनेताओं द्वारा गाँधीजी के आदर्श इतने जल्दी भुला दिए गए कि केवल भाषणबाजी या वोट की नीति हेतु गाँधी को आज भुनाया जा रहा है। श्री विद्यानन्द राजर्षि ने एक शब्दचित्र में इस व्यथा को शब्दबद्ध किया है—*''सत्य तुम्हारा इकलौता आत्मज/फेंक दिया/हमने घर से निकाल और अहिंसा किसी अनाथ हुई/लड़की-सी/डगर-डगर फिरी बुरे हाल/हिंसा पदलोलुपता/की विषकन्याओं को/आश्रय देकर/हमने तोड़ दिए सारे आचार/बहलाते रहे एक पीढ़ी की पीढ़ी को/लिये हाथों में/उत्तराधिकार... ।''* गाँधी का जन्म इतिहास बना, जिसका आज केवल अध्ययन हो रहा है। कवि परशुराम विरही कहते हैं—*''इतिहास ने जन्म लिया/गाँधी के रूप में,/और उसने मौसम बदल दिए/. ..कभी वह व्यक्ति था/फिर विचार बना/अब केवल नाम रह गया है।''*

गाँधीजी के वास्तविक स्वरूप को तथा उनकी नीति को न समझने वालों को दिनकर ने खूब लताड़ा है—''कहो, मार्क्स से डरे हुओं का गाँधी चौकीदार नहीं है,/सर्वोदय का दूत किसी संचय का पहरेदार नहीं।'' संक्षेप में पूर्व गाँधीयुग से लेकर छायावादोत्तर काल तक के विशाल कविता के फलक पर गाँधी व्यक्ति तथा विचार छाए रहे, बल्कि वर्तमान में भी उनके प्रभाव को देखा जा सकता है। हाँ, यह बात और है कि वर्तमान कविता साहित्य ने उनके स्थान पर उनकी विचारधारा को विशेष प्रश्रय दिया है। ●

# भारतीय संस्कृति में तुलसी पूर्व रामकथा

डॉ. शिवनारायण*

भारतीय संस्कृति पर रामकथा का प्रभाव सबसे अधिक है। देखा जाए तो रामकथा भारतवर्ष की सांस्कृतिक विचारधारा के विकास का प्रतिरूप है। रामकथा की लोकप्रियता का सर्वाधित महत्त्वपूर्ण कारण उसमें निहित 'सत्यमेव जयते' का आदर्श है, जो समग्र पौरास्त्य संस्कृति की आदर्श भावना का आधार स्तम्भ रहा है। रामकथा पर आधारित सर्वाधिक लोकप्रिय महाकाव्य है गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस', लेकिन उससे पूर्व भी रामकथा की एक समृद्ध परम्परा रही है। ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी तक राम-विषयक आख्यान की रचना होने लगी थी। वैदिक काल के बाद इक्ष्वाकुवंश के सूत्रों द्वारा इन आख्यानों का आरम्भ माना जाता है। इसी काल में स्फुट आख्यान काव्य के आधार पर वाल्मीकि ने रामकथा-विषयक महाकाव्य 'रामायण' की रचना की, जिसमें राम को एक आदर्श क्षत्रिय और वीरप्रतापी सम्राट के रूप में चित्रित किया गया। इसके बाद जब राम को विष्णु के अवतार के रूप में महिमामण्डित करने की प्रथा शुरू हुई, तो रामकथा का दूसरा सोपान आरम्भ हुआ। तब राम का यह काल्पनिक एवं अलौकिक घटनाओं से भरा अतिरंजित स्वरूप हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्म ग्रन्थों में बिखरा पाया जाने लगा। इसी समय विदेशों में भी रामकथा का विस्तार हुआ। रामकथा के विकास का तीसरा सोपान 13वीं शताब्दी में होता है, जब दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन का ज्वार चढ़ता है। तब सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव, रामानुज, विष्णु स्वामी, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य सहित एक के बाद एक धर्माचार्य भक्ति-भावना को लेकर प्रकट हो रहे थे और उनकी भक्ति का यह ज्वार उत्तर भारत की ओर बढ़ता जा रहा था। उसके बाद तो राम को विष्णु ही नहीं, परब्रह्म का पूर्णावतार माना जाने लगा। उसी दौर में सन्तकवि गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव होता है, जिन्होंने रामकथा के विभिन्न स्रोतों के आधार पर अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' की रचना अवधी भाषा में की।

---

संपर्क : 305—अमन अपार्टमेण्ट, शान्ति निकेतन कॉलोनी, भूतनाथ रोड, पटना—800026, मो. 9334333509

अपभ्रंश से अलग होती हुई हिन्दी भाषा जब अपनी स्वतन्त्र पहचान बना रही थी, तब तक भारतीय मानस पटल पर राम के परब्रह्म रूप की न केवल अमिट छाप बैठ चुकी थी, बल्कि रामभक्ति के भाव ने भी अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। राम जीवन के संयम-नियम और कर्तव्यनिष्ठा के ही नहीं, लोक-रक्षण और भक्त-संरक्षण के भी मानक हो चुके थे। दशरथ पुत्र सगुण ब्रह्म के रूप में लोकमानस में स्थापित हो चुके थे। तुलसीदास के पूर्व, हिन्दी रामकाव्य आरम्भ से ही दो मुख्य परम्पराओं में विकसित हुआ है—जैन परम्परा और वाल्मीकीय परम्परा। जैन परम्परा में भी तुलसी-पूर्व अनगिन रामकाव्य रचे गए, जिसमें कुछ प्रमुख नाम निम्नलिखित हैं—मुनि लावण्य कृत रावण-मन्दोदरी संवाद (1543 ई.), ब्रह्म जिनदास कृत रामचरित (1451 ई.), गुणकीर्ति कृत राम-सीता रास (1580 ई. के आस-पास), विनयध्वज कृत सीताराम चरित्र (1547 ई.), समयध्वज कृत सीता चरित्र (1554 ई.), मालदेव कृत अंजना सुन्दरी चउपई (1555 ई.), सुन्दर दास कृत हनुमान चरित (1559 ई.), ब्रह्म रायमल्ल कृत हनुमन्तभारती', 'अनेकगन्त' जैसी पत्रिकाओं में अगरचन्द्र नाहटा जैसे जैन साहित्य के मूर्धन्य विद्वानों ने दी हैं। ये रचनाएँ जैन समाज में मान्य रही हैं और इनकी प्रतियाँ भी विभिन्न जैन भण्डारों में उपलब्ध हैं।

वाल्मीकीय परम्परा के हिन्दी रामकाव्य दो धाराओं में विकसित हुए हैं। इनमें पहली धारा रही है दशावतार चरित लेखन की और दूसरी केवल रामचरित या राम-काव्य के गिने-चुने प्रसंगों पर स्वतन्त्र काव्य-लेखन की। उत्तर भारत में राघवानन्द और उनके शिष्य रामानन्द के प्रयासों से सम्प्रदायबद्ध रामभक्ति प्रचारित हुई, तब भी इन्हीं दो रूपों में हिन्दी राम-काव्य का विकास हुआ। दोनों धाराओं में अद्यावधि उपलब्ध प्रमुख रामकाव्य निम्नलिखित हैं—

| | | |
|---|---|---|
| चन्दबरदायी | — | अंश दशम (रामावतार चरित), 1192 ई. से पूर्व |
| विष्णुदास | — | रामायन—कथा, 1442 ई. |
| सूरजदास | — | रामजन्म, 1470 ई. के लगभग |
| साईंदास | — | दशावतार (रामावतार चरित), 1500 ई. के लगभग |
| ईश्वर दास | — | भरत विलाप, अंगद पैज (दोनों का काल 1541 ई. के लगभग) |
| सूरदास | — | रामचरित (सूरसागर), रामावतार (सूर सारावली) |
| माधवदास जगन्नाथी | — | रघुनाथ लीला, 1523 ई. |
| पुरुषोत्तम दास | — | कुशलवोपाख्यान (जैमिनी अश्मेघ), 1531 ई. |

| | | |
|---|---|---|
| ईश्वरदास (राजस्थान वाले) | – | हरिरस (रामावतार), 1535 ई. |
| परशुराम देवाचार्य | – | रघुनाथ चरित, सर्वथा दशावतार (दोनों 1543 ई. के लगभग) |
| अग्रदास | – | रामध्यान मंजरी, राम ज्योनार, पदावली, अग्रसागर अथवा शृंगार सागर (सभी 1575 ई. के लगभग) |

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी रामकाव्य का लेखन न केवल 'दशावतार चरित' से आरम्भ होता है, अपितु वह सम्प्रदाय निरपेक्ष भी है। चन्दवरदायी, विष्णु, सूरजदास और दोनों ईश्वरदास के रामकाव्य सम्प्रदाय निरपेक्ष लेखन के ही उदाहरण हैं। उत्तर भारत में सम्प्रदायबद्ध रामभक्ति—गंगा के भागीरथ थे राघवानन्द और उनके योग्य शिष्य रामानन्द। हिन्दी में सम्प्रदायबद्ध रामभक्ति काव्य के विकास में अग्र-प्रस्तुति स्वामी रामानन्द ने ही की है।

चन्दवरदायी विरचित 'दसम' में वर्णित रामावतार हिन्दी का प्रथम रामकाव्य है। इसके तेरह छन्दों में रामस्तुति और अड़तीस (264-301) दन्दों में सम्पूर्ण रामकथा का वर्णन किया गया है। इसकी रचना सन् 1192 ई. के आस-पास या पूर्व ही हुई होगी, पर अनेक शताब्दियों तक जनकण्ठ में जीवित रहने के कारण उसकी भाषा इतनी अधिक परिवर्तित हो गई है कि वह सोलहवीं शती की रचना मालूम पड़ती है। 'दसम' के अतिरिक्त 'संयोजिता पूर्वजन्म प्रस्ताव—45' में भी रामकथा वर्णित है। 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित रामकथाएँ उस युग में रामकथा की लोकप्रियता और उसके स्वरूप का सर्वोत्तम साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। कश्मीरी कवि जयानक ने भी रासो के नायक पृथ्वीराज के कण्ठ में दशावताराभरण धारण करने का उल्लेख किया है, *(दशावताराभरणं कण्ठे रक्षार्थनाहितम/अनन्यरक्षरक्षमात्मानम् शन्तस्य रक्षितुम् ।)*—पृथ्वीराज महाकाव्य, 2/43) जिससे न केवल चन्दवरदायी कृत रामकथा की प्रामाणिकता सिद्ध होती है बल्कि 12वीं शती में रामकथा और रामभक्ति की बढ़ती व्यापकता और लोकप्रियता की भी पुष्टि होती है।

वाल्मीकि ने 'विष्णुना सहशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः' और 'सर्वगुणोयेतः' मानव दशरथ राम की गाथा लिखी थी जिसका मूल कार्य है रावण-वध। कर्मनिष्ठा से वह नर से नारायण बना है। उसके विपरीत भक्ति धर्म से प्रेरित होने के कारण हिन्दी रामाख्यानक काव्य में आरम्भ से ही विष्णु के अवतार अथवा सगुण ब्रह्म राम और 'रामतत्त्वावमृत रसायन' (अध्यात्म रा.2/2) के स्पष्टीकरण के लिए 'अध्यात्म रामचरितं रामेणोक्तं' को सँवारा गया है। रावण-वध देव और धर्म-कार्य का मुख्य हेतु मात्र है। विष्णुदास ने देवकार्य साधक और धर्मपन्थ के अनुसरणकर्ता रामादि चारो भाइयों की कथा कहीं है जो चार होकर भी एक ही हैं। कवि का उद्देश्य स्पष्ट है—रामचरित धर्महित कह्यो। मुख्य कथा का संगठन इस रूप में किया गया है कि दशरथि राम का

भगवन विष्णु के अवतार और सगुण ब्रह्म राम के रूप में होता है। वाल्मीकि का अनुगमन होने के बावजूद इसमें सम्पूर्ण कथा केवल तीन-बाल, सुन्दर और उत्तर-काण्डों में ही वर्णित हुई है। कवि ने इसका औचित्य बताया नहीं है। वस्तुतः मुख्यकथा प्रथम दो काण्डों में ही पूर्ण हुई है। तीसरे (उत्तर) काण्ड में केवल, प्रासंगिक कथाओं—रावण कथा, इन्द्र-अहल्या-कथा, वन्दर-समदन, नृग-कथा, लवणासुर-वध, अरजामथन-शाप और राम का स्वर्गारोहण को स्थान मिला है। वाल्मीकि के अनुरूप ही अवान्तर कथाओं के बाहुल्य के कारण वस्तु संघटना अपेक्षा शिथिल है। अनेक प्रसंग, यथा—राम-सुग्रीव भेंट, बालि-प्रसंग, हनुमान का अशोकवाटिका विध्वंस, किंकर-वध, लंका-दहन, जयन्त-कथा इत्यादि, पंक्तियों, मुहावरे आदि पुनरुक्त हुए हैं। मुख्य कथा का आरम्भ दूसरे सर्ग की उक्ति 'ब्रह्मा पास देव सब गए' से हुआ है और कथा समाप्त हुई है। सुन्दरकाण्ड की अन्तिम पंक्ति 'रामचरित धर्महित कहयो' से। मुख्य कथा के पूर्व प्रथम सर्ग प्रस्तावना भाग है जिसमें देव स्तुति, कवि का आत्म-परिचय, ग्रन्थ'—रचनाकाल आदि को स्थान मिला है। उत्तरकाण्ड में वर्णित कथाएँ मुख्य कथा के उपसंहार हैं। वे अपनी सीमा में हेतु कथाएँ भी हैं। सम्पूर्ण कथा पुराण शैली अथवा कथावाचन की व्यास शैली में गठित हुई हैं। विभिन्न प्रसंगों की समाप्ति पर महात्म्य-कथन भी इसी का पोषक है।

सगुण ब्रह्म राम की भक्ति का प्रतिपादन करने वाला यही प्रथम हिन्दी ग्रन्थ है। कवि की महती विशेषता है, ब्रह्म राम को लोक-जीवन के धरातल पर रखकर मानवीय रूप में आख्यान रचना। आधार सामग्री को ग्रहण कर कथा बिन्दुओं का अपेक्षित नाटकीय संयोजन इस रूप में हुआ है कि वे मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक सन्दर्भ में स्वतः पिरोए हुए प्रतीत होते हैं। विष्णुदास ही हिन्दी के सम्भवतः प्रथम कवि हैं जिन्होंने पौराणिक आख्यान पर प्रबन्ध-लेखन की परम्परा का श्रीगणेश किया है। हिन्दी क्षेत्र में सम्प्रदायबद्ध रामभक्ति के प्रचार और दृढ़ीकरण का श्रेय स्वामी रामानन्द (1299-1410 ई.) को है। उससे निर्मित वातावरण का प्रथम सशक्त परिणाम हुआ जन-भाषा हिन्दी में प्रथम रामायण की रचना। विष्णुदास मूलतः व्यास थे। कथावाचन उन्होंने पिता से सीखी थी। उस कौशल के कुशल उपयोग के कारण ही उनकी रामायन-कथा को पर्याप्त लोकप्रियता मिली। रामभक्ति प्रतिपादक मानक ग्रन्थ 'रामचरितमानस' की रचना इसके एक सौ बत्तीस वर्षों बाद सन् 1574 ई. में आरम्भ हुई। कालान्तर में 'रामचरितमानस' जैसे-जैसे लोकप्रिय होता गया, वैसे-वैसे ही रामयान-कथा की लोकप्रियता सिमटती गई। अन्ततः वह दुर्दिन भी आया कि लोग इसका अता-पता तक भूल गए। सघन छतनार शाखाओं वाला हरा-भरा किरीटीतरु प्रत्येक थके-हारे प्राणी को सुखद छाया और 'विश्राम' तो प्रदान करता है, पर अपनी छाया तले किसी दूसरे वृक्ष को पनपने-फैलने नहीं देता। मानस की बढ़ती प्रसिद्धि ने रामायन-कथा का भी वही हाल कर दिया। खोज-विवरणों से इसकी सूचना पचासों वर्ष

पहले ही मिली थी, पर अप्रकाशित होने के कारण अनुसन्धित्सुओं तक को भी सुलभ नहीं थी।

रामायन-कथा हिन्दी की प्रथम मौलिक रामायन है। इसकी कलागत सीमाएँ हैं, जो हिन्दी के आरम्भिक युग की सीमाओं से जुड़ी हुई हैं। इसमें नगर-वर्णन, प्रकृति वर्णन, युद्ध वर्णन, सेना-प्रयाण-वर्णन, यश-वर्णन, सौन्दर्य-वर्णन आदि किसी भी उत्तम प्रबन्ध के अनुरूप हैं। संवादों दशरथ-कैकेयी, राम-सीता, राम-लक्ष्मण, रावण-सीता, हनुमान-सीता, हनुमान-रावण, विभीषण-रावण, मन्दोदरी-रावण और अंगद-रावण के संवाद उत्तम हैं। मर्मस्पर्शी स्थलों में राम का सीतान्वेषण (पृ.42/4-6) सीता विरह (पृ. 96/83-88,118/41-85), और लक्ष्मण-मूर्च्छा पर राम-विलाप (पृ.186/84-86) अधिक काव्यात्मक हैं। अंगी रस वीर है। युद्ध में उभय पक्षों के उत्साह का योग्य वर्णन हुआ है। काव्य-रूप की दृष्टि से स्वयं कवि ने इस 'कथा' की अभिधा दी है, यों यह महाकाव्योचित गरिमा का अधिकारी है। इसकी भाषा तत्कालीन ग्वालियरी (अपर नाम अन्तर्वेदी या बुन्देली) है। मुख्य छन्द चौपाई और दोहा है। इनके अतिरिक्त चौपाई, सोरठा, रूपमाला, सरसी, मरहटा, विष्णु पद और चामर छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। एक मात्र चामर छन्द की वर्णिक है, शेष सभी मात्रिक। विष्णु पर छन्द के प्रथम प्रयोग स्वयं कवि विष्णुदास हैं। एक रामायन कथा का उद्देश्य सर्व साधारण में धार्मिक और आध्यात्मिक भावना का उद्रेक और रामभक्ति का प्रचार करना है। विष्णुदास के राम मूलतः विष्णु के अवतार हैं, पर एक स्थल पर ऐसी भी उक्ति प्राप्त है जिससे अनुमित होता है कि वह दशरथ पुत्र के रूप में अवतरित होने के पूर्व से ही राम को सगुण ब्रह्म स्वीकार करता है। आगे तुलसी ने भी मानस में इस मान्यता को आगे बढ़ाया है। राम की दास्यभक्ति की स्थापना करने वाली अद्यावधि प्रथम हिन्दी कृति भी रामायन कथा ही ठहरती है। राजनीतिक उथल-पुथल के कारण ईसा की पन्द्रहवीं शती में जब सारे-के-सारे नैतिक, सामाजिक और धार्मिक मूल्य किनारे ढह रहे थे, साधारण जनता हताश और निराश थी, तब अवतार कथा को भाषाबद्ध कर विष्णुदास ने जनमानस को तुष्टि, शान्ति और आशा प्रदान करने के निमित्त दशरथ-सुत को धर्मसाधक सगुण ब्रह्म के रूप में उपस्थित करने की अग्र प्रस्तुति की। इस दृष्टि से वे सूर और तुलसी के पूर्वज कवि तो हैं ही, रामायन कथा, महाभारत कथा, रूक्मिणी मंगल, स्नेहलीला आदि उनकी कृतियाँ इस सन्दर्भ की आरम्भिक कड़ियाँ भी हैं।

हिन्दी में रामायन कथा बड़ी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इससे एवं विष्णु दास की अन्य कृतियों से हिन्दी-साहित्येतिहास में अद्यावधि स्थिर कई मान्यताएँ खण्डित हुई हैं। रामायन कथा की मात्र पहली मौलिक रामायण ही नहीं, 'रामकाव्य माला' में पहली मणि के समान सुशोभित-भर नहीं, 'रामचरितमानस' के 'क्वचिदन्यतोऽपि' का महत्त्वपूर्ण सबल सुत्र भी है।

साईंदास गुरु नानक के समसामयिक थे। उन्होंने दशावतार चरित में 'रामावतार' का वर्णन किया है। उसमें वाल्मीकि कथा ही रखी गई है। पर कतिपय स्थलों पर वर्णन मौलिक हैं। शूपर्णखा-विरूपीकरण का प्रसंग भी मौलिक है। शूर्पणखा आकर सीता से प्रस्ताव करती है कि तुम जैसी सुन्दरी का इन दिगम्बरों से क्या काम! तुम इनका साथ छोड़कर मेरे त्रिलोकविजयी भाई रावण की महिषी बन जाओ। इसे सुनकर सीता क्रुद्ध होती है और लक्ष्मण को पास बुलाकर सारी बातें बताती है। परिणामतः लक्ष्मण उसके नाक-कान काट देते हैं (पृ. 243/97)। कवि ने रचना-हेतु इस प्रकार बताया है—*''मन प्रबोधि यहि ग्रन्थ बनाया/भावा कीयौ मन ठहरायौ (358/241)।''* पूरी रचना में दामपत्य-भक्ति को सर्वाधित महत्त्व मिला है। साईंदास की मान्यता है—*''प्राप्ति भक्ति टहल की होने।''*

कवि राम को ब्रह्म का अवतार, त्रिभुवन राम, जगतकर्ता आदि बार-बार घोषित करता चलता है। यथा—(क) 'पूर्ण ब्रह्म लीयो अवतारा, भक्ति हेत कारि इहि बधु धारा।' (301/168)। (ख) 'श्रीरघुपति को पूर्ण अवतारा, साधो गुण लेहो चित धारा।' (358/240)। निराकार ब्रह्म साकार क्यों होता है—'ब्रह्म कहा योनि यह आवे?' प्रश्न का उत्तर—*''जहाँ-जहाँ कष्ट सन्तन को होई, रूप धारि तहू प्रगटि बलोई/भक्ति हेतु करि दुख-सुख पावे, भक्ति हेतु योनि भर्मावे''* (258/157) देते हुए साईंदास ने पूरी रामकथा कही है। निराकारोपासक सन्तों की कृतियों में 'रामावतार' उज्ज्वल रत्न है। इसमें ज्ञान, भक्ति और योग का उत्तम समन्वय हुआ है। सगुण ब्रह्म राम को उपास्यदेव मानते हुए भी उनके रूप, गुण, शील आदि के वर्णन में साईंदास ने निर्गुण भावना विचित्र ढंग से मेल कराया है। निश्चय ही, तुलसी-पूर्व राम-काव्यों में यह प्रौढ़ कृति है। इसके अतिरिक्त रामभक्ति के दशाधिक फुटकल पद्य भी 'गुसाईं गुरुवाणी' में मिलते हैं। दशावतार चरित की परम्परा का ही काव्य राजस्थान वाले महात्मा ईश्वरदास का 'हरिस' भी है। 'हरिस' में रामावतार की कथा वाल्मीकि के ही अनुरूप वर्णित है। इसमें भी राम की दास्यमलिक का ही प्रकाशन हुआ है। उपलब्धि की दृष्टि से साईंदास के रामावतार चरित की तुलना में ईश्वरदास की रामावतार कथा किंचित दुर्बल है।

ईश्वरदास कृत दो रामाख्यानक रचनाएँ हैं—''भरत विलाप' (अपरनाम भरत मिलाप) और 'अंगद-पेज'। 'भरत-विलाप' में अयोध्याकाण्ड की कथा निबद्ध हुई है। राम-वनवास के निर्देश से कथा आरम्भ हुई है। आगे रामादि के वनगमन, अयोध्या में शोक, पुरवासियों का रुदन, दशरथ की मृत्यु, पत्र लिखकर कैकेयी का भरत को ननिहाल से बुलवाने, अनिष्ट की आशंका से चिन्तित भरत का ननिहाल से प्रस्थान, निकट पहुँचने पर सुनसान अयोध्या और दुःखित पुरवासी को देखकर भरत का शोकातुर होने, रामवनगमन का समाचार सुनने पर भरत की मूर्च्छा, कौशल्या—भरत भेंट, रानियों के विलाप, कौशल्या का भरत को आश्वस्त करने, पिता के प्राणान्त का

समाचार सुनने पर भरत के पुनः मूर्च्छित होते, दशरथ का अन्त्येष्ठि संस्कार और औध्वदैहिक कृत्य, भरत द्वारा कैकेयी की भर्त्सना, राम को लौटने के लिए माताओं, पुरवासियों आदि सहित भरत का वन के लिए प्रस्थान, मार्ग में राम के चरण-चिह्नों को देखकर उन्हें दण्डवत करने, चलते-चलते भरत के तलवे में फफोले पड़ने, भरत को ससैन्य आते देखकर लक्ष्मण का क्रोध और भरत के शील का वर्णन कर राम को उसे शान्त करने, राम-भरत भेंट, पिता की मृत्यु का समाचार सुन रामादि के दुःखी होने, माताओं सहित पुरवासियों की दीन दशा देखकर राम के पीड़ित होने, राम से अयोध्या लौटने के लिए भरत का आग्रह, किन्तु राम का उन्हें आश्वस्त कर वनवास की अवधि तक राज्य को सँभालने का आग्रह सेवक-धर्म समझकर भरत का राम की चरणपादुका लेकर अयोध्या लौटने और नन्दिग्राम में तपस्वी-सा जीवन-यापन करने के वर्णन हुए हैं। इसमें भरत-निषाद भेंट और भरत के चित्रकूट पहुँचने के वर्णन नहीं रखे गए हैं। वस्तुतः भरत-विलाप आद्यन्त करुण रस से ओत-प्रोत कृति है। इसमें भरत के भ्रातृ-प्रेम, सेवक-धर्म एवं दास्य-भक्ति का उत्तम प्रकाशन हुआ है।

आचार्य वल्लभ-शिष्य सूर ने जितनी तन्मयता से कृष्ण-लीला का गायन किया है, उतने ही भाव-विभोर होकर रामचरित का भी। सूर रचित दो रामचरित प्राप्त हैं। प्रथम सूरसागर के नवम स्कन्ध में। वहाँ कुल 158 पदों में रामचरित पूरा हुआ है। द्वितीय रामचरित वर्णित हुआ है। 'सूरसारवली' (140-316) में जो 176 द्विपदियों में पूर्ण हुआ है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से अनुमित होता है कि सारावली वर्णित रामचरित वल्लभ मत में दीक्षित सूर का है, पर सूरसागर वर्णित रामचरित अदीक्षित सूर का। पुनः भक्ति और कवित्व दोनों दृष्टियों से सूरसागर वर्णित रामचरित अधिक महत्त्व का है। इनके अतिरिक्त दशम स्कन्ध के दो पदों (186-187) में भी रामकथा वर्णित हुई है। पदों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि वे युगीन वैराग्यपरक दैन्य भाव और दास्य-भक्ति के प्रकाशक हैं। वे लोकगीतों के सम्मोहन और तारल्य से युक्त हैं, सम्प्रदाय-निष्ठा से वे मुक्त हैं। अन्तिम पदों में राम-राज्य की व्यंजना, राम-दरबार में पत्र पहुँचाने की कल्पना आदि में युगीन राजनीति की प्रतिछाया है। साथ ही वे अपने प्रभु राम के विश्राम की भी अधिक चिन्ता करते हैं। तभी वे पत्र द्वारा अपनी बात कहने का निश्चय करते हैं : *''विनती कोहि विधि प्रभुहिं सुनाऊँ/महाराज रघुवरि धीर कौ समय न कनहुँ पाऊँ।''/ ''एक उपाय करो कमलापति, कहौ तो कहि समझाऊँ/पतित उधारण सूरनाम प्रभु, लिखित कागद पहुँचाऊँ।''*

असम्भव नहीं कि तुलसी को अपने राम तक विनय पत्रिका पहुँचाने की प्रेरणा इसी पद से मिली है। भक्ति व सर्वत्र दास्य-भाव की है, सांख्य भाव की नहीं। कथा-प्रसंगों के वर्णन और चरित्र विधान में भी मौलिकता है। पदों पर शास्त्रीयता की छाप कम है। अब अधिकांश पद लोकमानस और लोक-शैली की पकड़ के सूचक हैं। इस दृष्टि से—'ले भैया केवट उतराई', 'नौका है, नहिं लाऊँ', 'राम जू कहाँ गयेरी

माता', 'हो लछिमन सीता कौने हरी', 'वनचर कौन देस तें आयौ', 'तुम्हें पहिचानत नाहीं वीर', 'हनुमन भली करी तुम आए', 'काहे कौ परतिय हरि आनी', 'हे पिय लंका वनचर आयौ', 'बैठी जननि करति सगुनौती', हमारी जन्मभूमि यह गाऊँ' आदि पद विशेष रूपेण द्रष्टव्य हैं। 'सारावली' (140-316) वर्णित रामचरित की कथा भी सूरसागर वर्णित रामकथा के समान ही है, पर दोनों में सैद्धान्तिक और दार्शनिक दृष्टि से पर्याप्त अन्तर हो गया है। वल्लभ मत में दीक्षित सूर लीला गायक हैं। परिणामतः वे कृष्ण के विहार की तरह ही यहाँ राम विहार का भी वर्णन करते हैं। यहाँ रामभक्ति उनकी कृष्णभक्ति से अभेद हो गई है। अभेदोपासना के परिणामस्वरूप ही वे रामकथा को पूर्ण करने के उपरान्त सिद्धान्त कथन के रूप में राम के नित्य विहार का वर्णन कर चलते हैं (सारावली-308-315)। नित्य विहार के बारे में उनका कथन है कि मेरा यह वर्णन उतना ही अपर्याप्त है जितना समुद्र के आगे एक बूँद—'सूर समुद्र की बुन्द भई यह कवि बरनन नहिं करि है/कहति चरित रघुनाथ सरस्वति बौरी मति अनुसारि हैं (315)।'

ध्यातव्य है कि सूर के पूर्व किसी भी राम काव्यकार ने राम-सीता के नित्य विहार का वर्णन नहीं किया था। सारावली का सूरकृत राम-विहार वर्णन चाहे जितना भी संक्षिप्त क्यों न हो, पर है बड़े महत्त्व का। आगे रसिक उपासना में उसे सर्वाधिक विस्तार मिला है। अस्तु, तुलसी-पूर्व रामकाव्य में सूर-रचित दोनों रामचरितों का अशेष महत्त्व है। सम्प्रदायबद्ध भक्ति के प्रचारित होने के कारण सोलहवीं शती का रामकाव्य उससे प्रभावित होता है। विभिन्न रामकाव्यकार अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुरूप रामचरित्र को अंकित करते हैं। ऊपर सूर सारावती में वर्णित रामचरित्र पर विचार करते समय ऐसा संकेत किया गया है। सखी सम्प्रदाय के संस्थापक हरिराम व्यास के पिता माधवदास जगन्नाथी, निम्बार्क मत की रसिक शाखा के प्रवर्तक परशुराम देवाचार्य, अग्रदास आदि के रामकाव्य तुलसी पूर्व सम्प्रदायबद्ध रामकाव्य के ही उदाहरण हैं। माधवदास जगन्नाथी कृत 'रघुनाथ लीला', जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, चरित्रग्रन्थ नहीं लीला-काव्य है। जैमिनीय अश्वमेध के आधार पर पुरुषोत्तम दास कृत 'कुशलवोपाख्यान' (सन् 1541 ई.) सम्प्रदाय निरपेक्ष रचना है। तुलसी-पूर्व रामकाव्यों में यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। परशुराम देवाचार्य के 'रघुनाथ चरित' और 'दशावतार-चरित' में वर्णित रामचरित में राम की लीलाओं के विस्तृत वर्णन तो हुए ही, साथ ही उनके निर्गुण रूप का भी अच्छा प्रकाशन हुआ है।

रामावत सम्प्रदाय के भक्त-कवियों में अग्रदास अथवा अग्रअली ही सम्भवतः प्रथम रामकाव्यकार हैं। मधुर अथवा रसिक भाव की भक्ति का इन्हें ही प्रतिपादक माना जाता है। ये सूरदास के समकालीन थे। इनके रामकाव्यों में 'ध्यान मंजरी', 'राम-ज्योनार' और 'पदावली' बड़े महत्त्व के हैं। 'अग्रसागर' अथवा 'शृंगार-सागर' की सूचना-भर मिलती है। 'ध्यानमंजरी, मूलतः सिद्धान्त ग्रन्थ है। 'राम-ज्योनार' लघु कृति

है। शुद्ध भक्तिकाव्य और दैन्य-भाव की उत्तम अभिव्यक्ति की दृष्टि से 'पदावली' बहुमूल्य साहित्यिक निधि है। अग्रदास जितने महान साधन थे, उतने ही कुशल सम्प्रदाय संगठन भी। उनका महत्त्व रामोपासना में मधुर भाव को प्रतिष्ठित करते हुए आद्यन्त सदाचार निष्ठा के सम्यक निर्वाह के कारण है। तुलसी पूर्व रामभक्त्यात्मक पदों में उनका अप्रतिम महत्त्व है।

भारतीय संस्कृति में तुलसी-पूर्व हिन्दी रामकाव्य के उपरि संक्षिप्त आकलन के उपरान्त स्वीकार करना पड़ता है कि उसकी न केवल स्वस्थ और दीर्घ परम्परा है, बल्कि उपलब्धि की दृष्टि से भी वह विविधरूपा है। जैन-परम्परा के रामकाव्यों का सम्यक अनुशीलन अभी होना बाकी है, पर वाल्मीकीय परम्परा की कृतियों में विष्णुदास कृत 'रामायन-कथा', 'सूरजदास-कृत', 'रामजन्म', 'ईश्वरदास कृत', 'भरत-विलाप', 'साईंदास कृत', 'रामावतार चरित्र', 'सूरदास कृत', 'रामचरित्र', और 'अग्रदास कृत' पदावली के महत्त्व प्रत्यक्ष हो चुके हैं। तुलसी के मानस में 'नाना पुराण निगमागम सम्मतंयद' के साथ ही 'क्वचिदन्यतोऽपि' का भी उल्लेख मिलता है। उनका यथेच्छ सम्बल पाकर ही 'रामचरितमानस', 'विनय पत्रिका' और 'कवितावली' जैसी कृतियाँ प्रौढ़ प्रकर्ष प्राप्त कर सकी है और तभी रामचरितमान भारतीय संस्कृति और सभ्यता का ऐसा अक्षय कवच बन सका है कि उस पर किए गए सभी आक्रमण अन्ततः व्यर्थ हो जाते हैं। ●

# कविता का समकाल

अनिल कुमार पाण्डेय*

आधुनिकता के इस दौर ने अपनी श्रेष्ठता का पैमाना खरीद और फरोख्त को बना लिया है। यहाँ मनुष्य उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना सीसे की चहारदीवारी में कैद वस्तुएँ हैं। जन-नीतियों को हाशिए पर लाकर वस्तु-नीति को केन्द्र में रख दिया गया है। यही वजह है कि लोक-रीति और लोक-नीति की सभी सम्भावनाएँ बाजार-नीति से परिभाषित हो रही हैं। बाजार जिस रूप में चाह रहा है उसी रूप में मनुष्य स्वयं को परिवर्तित कर रहा है। यह कहें तो शायद और भी उचित हो कि मनुष्य बाजार को नहीं बाजार मनुष्य को संचालित कर रहा है। यहाँ राधेश्याम शुक्ल के नवगीत की कुछ पंक्तियाँ बरबस याद आती हैं—*सुनो/तुम्हारा मूल्य, तुम नहीं,/आँकेगा 'बाजार'/तुम्हें तो बस, बिकना है/तुम केवल मशीन हो,/जिसको वक्त चलाएगा/तुम्हें हृदय की नहीं/पेट की भाषा पढ़नी है/खुद्दारी, अस्मिता/हुई कल की बातें, तुमको/ 'बाजारू डिमाण्ड' पर/ अपनी मूरत गढ़नी है/ बनना होगा/रेसकोर्स के घोड़े की रफ्तार/तुम्हें तो बस बिकना है।*'' बाजारू डिमाण्ड पर अपनी मूरत गढ़ने की बेबसी और हृदय के भावों को अनसुना करके पेट की भाषा को पढ़ने की मजबूरी इधर के दिनों नियति बनती जा रही है।

इधर के परिवेश में बिकने की नियति इतनी बलवती हुई है कि शेयर बाजार के उतार-चढ़ाव पर जिन्दगी का उतार-चढ़ाव निर्भर होता जा रहा है। यहाँ की सत्तासीन सरकारों ने तो जैसे शेयर-दलालों को लुभाने के लिए लोक-मुद्दों को दाँव पर ही लगा दिया है। सुरेश सेठ जैसे कवि की चिन्ता बाजार को सकारात्मक बनाने के चक्कर में जन-मुद्दों को भुला देने में है। वे एक कविता में लिखते हैं—''*सरकारी विधाता परेशान हैं,/शेयर मर्कीटों ने हाराकिरी कर ली/ धनाढ्य निवेशक कैसे भारत आएँगे/इधर जमीनें बंजर हुईं/होने दो/नौजवान फालिजग्रस्त हो गिरे/ गिरने दो/आजादी पर टूटती उम्मीदों की कराह/हावी हो गई, होने दो/ लेकिन देखो/उनकी अट्टालिकाओं*

* सहायक प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, समाज विज्ञान एवं भाषा संकाय, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, पंजाब, मो.-8528833317

*पर ध्वस्त होते बाजार/कोई पैबन्द न लगा दें?/ जागते रहो (सुरेश सेठ)।''* राधेश्याम शुक्ल जहाँ मनुष्य के मात्र बिकने-भर की गुंजाईश शेष रहने की स्थिति को पहचानते हैं वहीं सुरेश सेठ बाजार के सामने किसी अन्य मुद्दों/समस्याओं को प्रमुखता नहीं दी जाएगी, इस सच्चाई की पड़ताल करते हैं।

इस बाजार समय में भागता हुआ जीवन उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए इतना लालायित है कि स्वयं को दलालों के समीकरण पर गिरवी रख दिया है। अपनी तरह का यह ऐसा समय है जहाँ मशीनों के शोर में मनुष्य के शोर की कोई सुनवाई नहीं है। कोई पुर्जा किसी भी प्रकार के मशीन का खराब हो जाए उसके लिए हर दो किलोमीटर पर एक ठीक करने वाला डॉक्टर बैठा है लेकिन यदि मनुष्य बीमार हो जाए तो उसे देखने वाला डॉक्टर बमुश्किलन दिखाई देता है। बाजार की इच्छाओं में मनुष्य की इच्छाओं की परख की जा रही है, इतनी मजबूर स्थिति तो कभी नहीं रही मनुष्य की। ऐसे परिदृश्य को तो देखकर ऐसा लगता है, जैसे बाजार में वस्तुएँ नहीं मनुष्य खड़ा है बिकने के लिए। एक जगह माधव कौशिक ने कहा है–

*''जिन्दगी बेकार है अब क्या करे कोई बता*
*हर जगह बाजार है अब क्या करे कोई बता।*
*चन्द लम्हों में, मशीनों ने बना डाला मशीन*
*आदमी लाचार है, अब क्या करे कोई बता।''*[2]

बाजार का प्रभावी होना और आदमी का लाचार होना इस इक्कीसवीं सदी की गम्भीर सच्चाई है। बाजार को सामाजिक स्वीकृति में लाने वाला मनुष्य था भले लेकिन आज उसकी अस्मिता और अस्तित्त्व बाजार के हाथों में है। जो सक्षम हैं, समर्थ हैं वे बाजार को भले एक वरदान मानकर चल रहे हों लेकिन जो गरीब है, मजदूर है, लाचार है उसके लिए बाजार किसी बड़ी त्रासदी से कम नहीं है। नूर मुहम्मद नूर की इस बेबसी को अपने लोक की बेबसी यदि समझने का प्रयास करें तो बाजार से उपजने वाली विसंगतियों का परिदृश्य और स्पष्ट हो जाता है–*''मैं चीजों के लिए खुद बिक न जाऊँ/नए बाजार से डर लग रहा है/पैसे नहीं है जेब में झोला उदास है/बाजार हर तरह का, मगर आस-पास है।''*[3] नए बाजार से डर तब लग रहा है जब गजलकार बाजार में चीजों को खरीदने के लिए प्रस्तुत हुआ है जबकि एक बड़ी सच्चाई यह भी है कि बाजार बड़े चुपके से आपके चूल्हे तक प्रवेश कर चुका है, और अभी तक एहसास तक नहीं होने दिया। खान-पान से लेकर रहन-सहन, रिश्ते-नाते तक का समीकरण यदि किसी द्वारा निर्धारित किया जा रहा है तो वह बाजार ही है। यहाँ बुद्धि का इस्तेमाल इतने सजगता से किया जा रहा है कि हृदय की भावुकता नहीं नजर ही नहीं आती। राधेश्याम शुक्ल अपने एक नवगीत में 'अम्मा' को सचेत करने के बहाने बाजार के घर में प्रवेश कर जाने की स्थिति की बड़ी सजग व्याख्या प्रस्तुत करते हैं–

*''चूल्हे तक बाजार आ गया/अम्मा, घर सँभाल कर रखना*
*कल भी था बाजार यहाँ पर,/किन्तु नहीं था निर्मम इतना;*
*खड़े बीच बाजार/कबीरों का न डिगा था संयम इतना*
*सबकी खैर माँगते सब थे/बैर-दोस्ती के उसूल थे/जेब नहीं काटी जाती थी*
*कारोबारी भी 'रसूल' थे/ अब तो विचलन भरी हर डगर,*
*हर पग, देख-भाल कर रखना/...सदियों तिनके जोड़-जोड़ कर*
*नीड़ रचा था एक बया ने/बन्धन कितने थे जुड़ाव के/सिरजा जिनको 'मोह-माया' ने*
*खाली पिंजरे 'हीरामन' की/मैदा भरी कटोरी रोए;/कितनी अँसुवाई मनौतियाँ*
*पियरी की गठजोड़ी रोए/सगुण भरे दिन लौटै/तुलसी चौरे 'दिया' बार कर रखना।''*[4]

बाजार सिर्फ माँग की पूर्ति के सिद्धान्त पर ही कार्य नहीं कर रहा है, वह बहुत आगे जाकर आपकी व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द का भी निर्धारण कर रहा है। हम जिन सम्बन्धों के निर्धारण में पड़ोसियों की नहीं सुना करते थे उन्हीं सम्बन्धों के निर्धारण में बाजार की मनमानी को बर्दास्त करने के लिए विवश हैं। *''एक तरफ 'ग्लोबल विलेज' है/एक तरफ 'कुनबा' बिखरा है/पूरी दुनिया से नजदीकी/पर, अपनी छत से बेगाने/अन्धी दौड़ शरीक सभी/मंजिल का पता न कोई जाने/दौड़ रहा घोड़ा विज्ञानी/'टेक्नोलॉजी' का पहरा है।''*[5] विज्ञानी घोड़े की दौड़ में टेक्नोलॉजी के पहरे की जो अनचाही बन्दिशें हम पर लगा दी गई हैं उनका परिणाम नित-प्रतिदिन के व्यवहार में झलकने लगी है। हमारे बोल-भाषा, बात-व्यवहार दायरों और बन्दिशों को लाँघ चुके हैं क्योंकि हम यहाँ पर अपने से बड़ों द्वारा सिखाए गए आचरण का व्यवहार न करके बाजारी विज्ञापनों द्वारा निर्देशित स्वभावों के अनुसार आचरण करते हैं। जिन्हें ये आचरण अच्छे नहीं लगे वे अलग हो गए। जुड़े हुए इतने लोग अलग हुए कि हमारे पास सिवाय चुप्पी के कुछ और बचा भी नहीं। यह चुप्पी खामोशी बनकर उभरी है जिसके गिरफ्त में हमारा समाज आ चुका है। हरेराम समीप की ये चन्द लाइनें इस स्थिति को और भी स्पष्ट रूप से बयान करती हैं–

*''हमने सारे रिश्ते-नाते भाव-ताव को बेच दिए*
*बाजारों से ले आए फिर आधी-पौनी खामोशी*
*अब समझ में आ रहा क्यों हरता हूँ खेल में*
*चाल वो चलता है अक्सर मेरे पत्ते देखकर।''*[6]

पत्ते की स्थिति पर बाजार की चाल मामूली नहीं है। कम-से-कम बाजार के अत्याधुनिक संसाधन तो इसी चाल के परिणाम हैं जिनके जाल में फँसना हमारा शौक तो नहीं बेबसी जरूर बन गई है। जिधर भी देखो *''कमाल ही कमाल/इस बाजार समय में/सब लाजवाब/चकाचक, झकाझक''*[7] मॉल-संस्कृति इस चकाचक, झकाझक का ही एक प्रबल उदाहरण है। यहाँ पहुँचने के बाद चीजें आपको ललचाती हैं। इन चीजों में

चमक-दमक इतनी होती हैं कि आपकी आँखें चुधियाँ जाती हैं। बाजार के सौन्दर्य आपको ऐसा होने के लिए विवश करते हैं। यह एक सच्चाई है कि बाजार की वस्तुओं में एक चमक होती है लेकिन वह वस्तुएँ अक्सर हमारे काम की नहीं होती हैं। हम बाजारू आकर्षण में उन्हें खरीद तो लेते हैं, आगे चलकर हाथ मलते भी रहते हैं। बाजार के इस मायावी दुनिया का सच मधुकर अष्ठाना अपने नवगीत में कुछ इस तरह प्रस्तुत करते हैं *''जिसमें जितनी चमक-दमक है। वह उतरा/नकली सोना है/आकर्षण के चक्रव्यूह में/केवल खोना ही खोना है/अक्सर लोग/बहल जाते हैं/रंग-रूप के इन्द्रजाल में/पर बाकी साँसें/भरते हम आजीवन/गहरे मलाल में/समय निकल जाने पर/लगता हमको/रोना ही रोना है।''*[8] बाजार के अपने कुछ सिद्धान्त होते हैं। इन सिद्धान्तों में 'बिके हुए माल वापिस नहीं होंगे', 'फैशन के दौर में शुद्धता की अपेक्षा न करें', 'गारण्टी की अपेक्षा न करें।' ऐसी स्थिति में जो एक बार बाजार के हत्थे चढ़ा तो जिन्दगी-भर हाथ मलना ही शेष रह जाता है उसके लिए।

बाजार के अन्दर एक आकर्षण है जो आपसे अपनी जरूरत से कहीं अधिक ढलने के लिए जिरह करती है। इस स्थिति में एक पल के लिए आप कह सकते हैं कि आपके पास पैसे नहीं हैं। पैसे यदि जेब में नहीं हैं तो बाजार अपने स्वभावानुकूल क्रेडिट कार्ड पर लेने के लिए विवश करता है। यदि क्रेडिट कार्ड से भी सामानों को ले जाने में असमर्थ हैं तो कम्पनियाँ होम डिलीवरी का ऑप्शन देती हैं। यहाँ तक आकर इस तरह आप मजबूर होते हैं कि दिल-दिमाग सब कुछ बाजार के हाथों में सौंप कर निश्चिन्त हो जाना चाहते हैं। जबकि बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती है। इसके बाद जरूरत की छोटी-सी-छोटी चीजों के लिए भी आप बाजार की तरफ सिर उठाकर देखना शुरू कर देते हैं। जब छोटी से लेकर बड़ी चीजों तक हम बाजार पर निर्भर हो गए तो इसका मतलब न चाहते हुए भी स्वयं को बाजार तक सीमित कर दिए। हालाँकि यह विश्वास हमें फिर भी नहीं हो रहा है कि हम बाजार के हाथों गिरवी रखे जा चुके हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ माधव कौशिक के गजल की ये पक्तियाँ बरबस ध्यान आकर्षित करती हैं—*''जाने कब महसूस करोगे गहराई बाजारों की/घर-आँगन को लील गई है परछाई बाजारों की/चहल-पहल की चकाचौंध में जाने कितने दर्द छुपे/सिर्फ मातमी धुन पर गाती शहनाई बाजारों की।''*[9] बाजार शहनाई की धुन टेर रहा है और हम मातम मना रहे हैं। इस पर भी हमारी आँखें नहीं खुल रही हैं और न ही तो हमारे नीति-नियन्ता इन गम्भीर मसलों पर कुछ सार्थक सोच-विचार रहे हैं। यदि यही सब रहा तो 'वह दिन जल्दी ही आएगा' जब हमारी नियति से लेकर धड़कन तक को बाजार निर्धारित करेगा। समकालीन हिन्दी कविता के प्रसिद्ध हस्ताक्षर भगवत रावत की यह चिन्ता ही हमारी चिन्ताओं की अभिव्यक्ति है—

> *ऐसा ही चलता रहा सब कुछ ठीक-ठीक तो/हमारे लोकतन्त्र में वह दिन जल्दी ही आएगा/जब आसमान छूता सेंसेक्स ही/हमारे देश की धड़कनों का/एकमात्र संवादी सूचकांक रह जाएगा*

*वह दिन जल्दी ही आएगा/जब गरीबी, अन्याय, शोषण और असमानता जैसे/पिछड़े हुए विषयों पर बहस करने वालों को/विकास की तेज रफ्तार वाली ट्रेन की खिड़की से/बाहर फेंक दिया जाएगा*

*वह दिन जल्दी ही आएगा/जब न्याय के सर्वोच्च दरबार में भी/सिर्फ आँकड़ों की भाषा बोली और समझी जाएगी/और आँकड़ों को ही जीवित साक्ष्य मानकर/दूध का पानी/और पानी का दूध किया जाएगा*

*वह दिन जल्द ही आएगा/जब रिश्ते सारे-के-सारे बदल दिए जाएँगे/सम्बन्धों का नए सिरे से नामकरण किया जाएगा/हर अहसास की दरें पहले से तय होंगी/मित्रता और प्यार के लिए तो विशेष रूप से/उचित ब्याज पर ऋणों का उपहार दिया जाएगा*

*प्रिय नागरिकों/एक बार/बस एक बार/इन विश्व हितकारी विश्वव्यापी कम्पनियों को/पूरी तरह सत्ता में आ जाने दो/थोड़ी उदारता से काम नो/फिर धर्म और अधर्म में/फर्क नहीं रह जाएगा/न कहीं कोई वंचित होगा न उपेक्षित/फिर कहीं कोई/विस्थापित नहीं कहलाएगा।*[10]

जिन 'विश्व हितकारी विश्वव्यापी कम्पनियों' के आने देने की बात कभी भगवत रावत करते थे अब वही लोक-व्यवहार के केन्द्र में हैं। हमारी समझ और सामर्थ्य का आंकलन हमारे अपने सामर्थ्य से न होकर सूचकांक के घटते-बढ़ते आँकड़ों से हो रहा है। गरीबी और भुखमरी वैसे तो हमारे परिवेश में ही बहुत है लेकिन हमें वह नहीं दिखाई देती है। भूखे पेट और उदास आँखें हमें तब दिखाई देती हैं जब कम्पनियों के तलबगार कोई आँकड़े जारी करते हैं। आज हमारे एक-एक साँस की गिनती मल्टीनेशनल कम्पनियाँ कर रही हैं। सम्भव है कि ऐसा मानव-जीवन के इतिहास में पहली बार हो रहा है कि हमारे पास सब कुछ होते हुए भी हमारा कुछ नहीं है। हम सबके होते हुए भी किसी के नहीं हैं, क्योंकि सभी स्थितियों के मूल्यांकन में अब 'अर्थ' को प्रमुखता दी जा रही है। ●

**सन्दर्भ**


1. शुक्ल, राधेश्याम : कैसे बुने चदरिया साधो, पृष्ठ-79
2. कौशिक, माधव : सारे अपने बागी हैं, पृष्ठ-56
3. सिन्हा, अनिरुद्ध : हिन्दी गजल का नया पक्ष, पृष्ठ-169
4. शुक्ल, राधेश्याम : कैसे बुनें चदरिया साधो, पृष्ठ-89
5. शुक्ल, राधेश्याम : कैसे बुने चदरिया साधो, पृष्ठ-119
6. सिन्हा, अनिरुद्ध : हिन्दी गजल का नया पक्ष, पृष्ठ-169
7. रंजन, आत्मा : पगडण्डियाँ गवाह हैं, पृष्ठ-70
8. अष्ठाना, मधुकर : पहने हुए धुप के चश्मे, पृष्ठ-41
9. *कौशिक*, माधव : पृष्ठ-138, हिन्दी गजल का नया पक्ष
10. रावत, भगवत : देश एक राग है, पृष्ठ-52।

# प्रवासी स्त्री-जीवन की दुश्वारियाँ
# (सन्दर्भ : सुधा ओम ढींगरा की कहानियाँ)

सोनपाल सिंह*

वर्तमान में साहित्य विमर्शों के दौर से गुजर रहा है। 1990 के बाद स्त्री-विमर्श एवं दलित-विमर्श ने स्वीकृति पा ली है। इन्हीं विमर्शों में पिछले आठ-दस सालों में प्रवासी-विमर्श ने भी अपनी मजबूत जगह बनाई है। स्त्री-विमर्श न अपवाद है और न मजाक। यह आज के समय की जरूरत है। वैसे यह जरूरत हमेशा से रही है, पर आज के समय में इसे महसूस कर इस ओर कार्य किया जा रहा है, जो अत्यन्त सुखद है। राजकमल प्रकाशन से प्रभा खेतान की आत्मकथा प्रकाशित हुई थी जिसका नाम था 'अन्या से अनन्या'। यह नाम अपने-आप में स्त्री-विमर्श की एक सार्थक व्याख्या करता प्रतीत होता है। स्त्री जो वस्तुतः अनन्य है पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय हर परिप्रेक्ष्य में सदा से अन्य की जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त रही है। उसे इस अन्य की जिन्दगी से मुक्त कर उसके अनन्य रूप को सामाजिकता प्रदान करना ही स्त्री-विमर्श का लक्ष्य है। इन दिनों साहित्य में तेजी से स्त्री-विमर्श-परक साहित्य की धमक सुनाई दे रही है। साहित्य मानव-जीवन की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं की आलोचना होता है। इस नाते उसमें सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का उकेरा जाना बेहद स्वाभाविक है। स्त्री आधी आबादी का प्रतिनिधित्व करती है और समाज की अनिवार्य इकाई है। ऐसे में स्त्री की जरूरतों, उसके स्वत्व, उसके अधिकार एवं उसकी स्थिति को साहित्य में स्थान दिया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

''आधुनिक नारी-बोध को प्रकट करने वाला महिला-लेखन समसामयिक जीवन स्थितियों की जटिल अनुभूतियों और साहसिक कृतियों का प्रतिबिम्ब है। इस लेखन का सरोकार जहाँ साहित्य की परिवर्तित होती प्रवृत्तियों से जुड़ रहा है वहीं नारी-जीवन के भुक्तभोगी अनुभवों का सहयात्री भी बन रहा है।''[1] इस रूप में यह नारी-समाज की चेतनशीलता और विकास-यात्रा का प्रस्तुतीकरण करता है। स्वदेश के परिवेश से बाहर सुदूर विदेश में तमाम तरह की अजनबियत को झेलते हुए प्रवासी महिलाओं के

शोधकर्ता (पी-एच.डी.), हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़, मो.- 8859422599

जीवन-संघर्ष के मूल्यांकन से एक बात तो साफ हो जाती है कि स्त्री के जीवन का तापमान देश या विदेश सभी जगह एक जैसे ही रहता है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य प्रवासी महिलाओं के जीवन के इसी तापमान का मूल्यांकन सुधा ओम ढींगरा की 'अनुगूँज', 'क्यों ब्याही परदेस...? एवं 'बेघर सच' कहानियों के आलोचनात्मक विश्लेषण से करना है।

विदेशी सरजमीं पर निवास कर रहे भारतीय साहित्यकारों का साहित्य सामान्यतः अपने देश की याद में रचा गया भावुक साहित्य होता है अथवा पाश्चात्य जीवन-शैली को रू-ब-रू कराता हुआ बोल्ड साहित्य। डॉ. सुधा ओम ढींगरा अपनी कहानियों में इन दोनों के बीच का रास्ता तलाशती हैं। जहाँ एक ओर कथ्य के स्तर पर उनकी कहानियाँ भारतीय सरजमीं से जुड़ी हुई हैं तो वहीं दूसरी ओर संवेदना के स्तर पर वह पाश्चात्य संस्कृति की पड़ताल भी करती नजर आती हैं। सुधा जी की कहानियों में पीछे छूट चुकी अपनी सरजमीं की कसक मुखर रूप से अभिव्यक्ति पाती है, परन्तु यह कसक भावुकता के साथ नहीं आती, यह आती है बिम्बों, प्रतीकों और कण्टेण्ट के रूप में। कई बार तो कहानी का सब कुछ अपने आस-पास का-सा लगता है सिवाय देशकाल और वातावरण के।

सामान्यतः प्रवासी साहित्य के तीन पड़ावों को रेखांकित किया जा सकता है—1. प्रवासीपन से मुक्त साहित्य, जिसमें साहित्य का देशकाल और वातावरण अधिकतर भारतीय ही होता है। 2. गृह आसक्ति या नॉस्टेल्जिया का साहित्य, अधिकतर प्रवासी रचनाकार इसी पड़ाव पर आकर रुक जाते हैं और मुड़-मुड़कर अपनी सरजमीं की ओर वापसी की उम्मीद में देखते हैं। 3. सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न साहित्य, जिनमें हमारा सामना प्रवासी जीवन की आश्चर्यजनक सच्चाइयों से होता है। सुधा जी की आलोच्य कहानियाँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आएँगी।

पुरुष प्रधान समाज में औरतों की त्रासदी की मार्मिक अभिव्यक्ति है 'अनुगूँज' की मनदीप। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को अर्द्धनारीश्वर कहने वाले समाज में आधी एवं आधा पुरुष जैसे कोई स्थिति है ही नहीं। वास्तव में इसमें आधी नारी और पुरुष ईश्वर की भावना निहित है। समाज में सभी समझौते स्त्री के ही हिस्से आते हैं। कदाचित् हमारा सामाजिक ढाँचा समझौते की कोई शर्त पुरुष पर लागू नहीं करता। इस सब के बीच एक अन्य दुःखद सत्य यह है कि एक ओर स्त्री अपने रिश्ते के बीच में मौजूद बच्चे के सहारे सम्बन्धों को सुधारने का प्रयास करती है तो दूसरी ओर पुरुष इसी बच्चे को हथियार के रूप में इस्तेमाल कर स्त्री को मर्यादाओं और परम्पराओं की बेड़ी में जकड़ देता है। अपने शहर, समाज और देश में रहकर ऐसी अनेकों समस्याओं को झेल रही स्त्री को भी अन्याय के खिलाफ आवाज उठाना और इंसाफ की लम्बी लड़ाई लड़ना कदाचित् असम्भव-सा दिखलाई पड़ता है तो पराए देश की सरजमीं पर 'अनुगूँज' की मनप्रीत का डर लाजमी है—''मनप्रीत को लगा उसकी सब इन्द्रियों ने

काम करना बन्द कर दिया है। बस उसका दिल धड़क रहा है। जिसकी आवाज वह सुन रही है और उसकी जीभ तालू के साथ चिपक गई है। उसका पति, सास-ससुर और जेठ सामने बैठे उसे घूर रहे हैं। उसका शरीर पसीने से भीग गया।''[2] इस सब के बावजूद "उसकी तालू से चिपकी जीभा छूट गई और वह बोलने लगी और बोलती गई...सही और सच्ची घटना...वर्णित करके ही रुकी और अन्त में उसकी आँखें उससे भी अधिक कह गई।''[3] अन्ततोगत्वा मनदीप की अन्याय के प्रति अन्तरात्मा की विजय काबिल-ए-तारीफ है। यूँ तो आदर्शोन्मुखी अन्त लिये हुए इस कहानी की घटनाएँ हिन्दुस्तान के हर कोने में आए दिन घटती हैं, परन्तु यह कहानी प्रवासी जीवन के कुछ कड़वे पुरुषसत्तात्मक पहलुओं से रू-ब-रू कराती है।

''बीजी मुझे यह सब नहीं, पति चाहिए जो पाँच सालों में आप मुझे नहीं दे पाईं। अब मैं तो तलाक ही चाहती हूँ।''[4] अपनी सास को सम्बोधित गुरमीत का यह संवाद झकझोर देने वाला है। यह प्रवासी स्त्री-जीवन की दुश्वारियों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। जहाँ शादी के 5 वर्ष बाद भी गुरमीत अपने पति को नहीं पा सकती है उसकी स्थिति नौकरानी से बढ़कर कुछ भी नहीं है। ''इन्हें बहुएँ नहीं, नौकरानियाँ चाहिए। बहुएँ तो इनकी गोरियाँ हैं। नौकरानियाँ यहाँ महँगी पड़ती हैं। ये शादी की आड़ में हमें नौकरानियाँ बनाकर लाए हैं। भाग जा यहाँ से...''[5] झगड़े के दौरान मनप्रीत से कहा गया गुरमीत का यह संवाद किसी भयावह सच से हमें रू-ब-रू कराता है। यह कटु सत्य उन परिवारीजनों को आत्ममन्थन के लिए मजबूर करेगा जो महज विदेश और धनधान्य के लालच में अपनी बेटियाँ प्रवासी और N.R.I. लोगों को कन्यादान में देते हैं।

ऐसे माता-पिताओं को इस सन्दर्भ में व्यापक आईना दिखलाती कहानी है 'क्यों ब्याही परदेस...?' जो लोग बिना सोचे-समझे रील लाइफ को परदेसी चमक-दमक के लालच, धनाढ्य परिवार और विदेश में बेटी की शादी को अपने स्टेटस सिम्बल की तरह पेश करते और देखते हैं उनको स्वप्नलोक से यथार्थ के धरातल पर लाने में यह कहानी समर्थ है। पत्रात्मक शैली में लिखित सुधा जी की 'क्यों ब्याही परदेस...?' के कथ्य का उत्कर्ष कलम तोड़ देने वाला है। बड़े ही विलक्षण और मार्मिक ढंग से लिखे पत्र में एक प्रवासी औरत और त्रासदी को सुधा जी ने कागज पर बखूबी उकेरा है। कदाचित् हिन्दुस्तान में ब्याहता स्त्रियों का जीवन भी आनन्द की खान नहीं होता। इस वास्तविकता से सभी परिचित हैं, परन्तु सुधा जी की गुड़िया के पत्र का यह अन्तिम खण्ड हृदय को झकझोर देने वाला है—''अक्सर सोचती हूँ लड़कियाँ विवाह के बाद नए माहौल में मेरी तरह ही जूझती होंगी। शायद नहीं, मेरी तरह नहीं। उनके संघर्ष और मेरे स्ट्रगल में बहुत भिन्नता है। उनका टकराव अपने देश में अपने लोगों में होता है। सिर्फ बाबुल का घर छोड़कर वे ससुराल के घर में गई होती हैं। मेरे लिए तो विशेष अन्तर दो देशों के परिवेश का है, दो संस्कृतियों के मूल्यों में सामंजस्य का, अजनबी

देश और अजनबी लोगों में स्वयं की पहचान और अस्तित्त्व को बचाए रखने का है। यहाँ हर मोर्चे पर तैनात नितान्त अकेली खड़ी हूँ मैं और वहाँ ससुराल और मायके के परिवार के सदस्य और रिश्तेदार लड़की के साथ पग-पग पर होते हैं। अकेलेपन का भार मुझे यहाँ अकेले ढोना है ताउम्र, जब तक इस देश में हूँ, क्योंकि ब्याह दी गई हूँ परदेस में...।''[6]

पत्र के इस अंश का 'अकेलेपन का भार मुझे यहाँ अकेले ढोना है ताउम्र...' पद पीछे छूट चुकी अपनी सरजमीं की कसक को मुखर रूप से अभिव्यक्त करता है। पत्र के ही एक अन्य हिस्से में यह कसक भावुकता और भारतीय होने के आत्मगौरव के रूप में आती है—''एक बात तो मुझे बहुत हैरान कर गई, देश में हम अपने परिवार, खानदान और दादा-पड़दादा से जाने जाते हैं, परदेस में हम भारतीयों की पहचान हमारा काम होता है। भारतीयता हमारी होंद है और भाषा हमारी अस्मिता। इस देश में आकर महसूस हुआ कि अपनी जातीय और प्रान्तीय पहचान से परे मैं एक भारतीय हूँ। गर्व हुआ यह जानकर।''[7] यह गर्व नहीं, बल्कि अपनी अस्मिता और सरजमीं छूट जाने की कसक है।

औरतों के जीवन की एक अन्य त्रासदी उसके मायके से लेकर ससुराल तक मसलन जन्म से लेकर मृत्यु तक होम और हाउस के अन्तर्द्वन्द्व को बुनती कहानी है 'बेघर सच'। इसके कथानक का ताना-बाना समाज में स्त्री की स्थिति के व्यापक आयाम के अन्तर्गत पुरुषसत्ता की वर्चस्ववादिता और उसकी अधीनता स्वीकारती नारी की नियति के संयोग से बुना गया है। बचपन से ही अधिकारों की माँग और प्रतिरोध की जिजीविषा प्रदर्शित करता रंजना का चरित्र भारतीय स्त्री-लेखन से प्रवासी स्त्री-लेखन को भिन्नता प्रदान करता है। साथ ही तमाम सारी विडम्बनाओं के बावजूद रंजना के जरिए उसकी माँ की जीवन-यात्रा, रंजना एवं सदोष के रिश्ते के माध्यम से देह से इतर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के अस्तित्त्व और संजय के रूप में पुरुषसत्ता को जिस प्रकार सुधा जी ने पन्नों पर उकेरा है वह काबिल-ए-तारीफ है।

जहाँ तक बात भारतीय स्त्री-लेखन से प्रवासी स्त्री-लेखन की भिन्नता की है तो प्रमुख अन्तर यह दिखलाई पड़ता है कि प्रवासी स्त्रियाँ स्वावलम्बी एवं कैरियर के प्रति अधिक जागरूक होती हैं। उसके लिए वह अकेले जीवन जीने की चुनौती का भी सामना करती हैं जबकि भारतीय स्त्रियाँ स्वावलम्बी होते हुए भी एक जीवनसाथी के साथ रहने के लिए हर स्थिति में विवश हैं चाहे वह 'पीली आँधी' की नायिका हो या 'छिन्नमस्ता' की। ये शुरुआत में तो परिवार और समाज के प्रति विद्रोह करती हैं, लेकिन कहीं-ना-कहीं आगे जाकर समझौता भी कर लेती हैं। यही समझौतावादी प्रवृत्ति प्रवासी स्त्री-पात्रों में कहीं दूर-दूर तक देखने को नहीं मिलती। कदाचित् यही कारण है कि 'बेघर सच' की रंजना अधिकारों के लिए मुखर रूप से सामने आती है।

''तुम क्या जानो...सच क्या है? किनारे पर खड़े हो सच नहीं जाना जाता, गहरे में डुबकी लगानी पड़ती है। तुम देह के भीतर की स्त्री तक पहुँचे ही कब हो जो सच जान सकते।''[8] संजय को सम्बोधित रंजना का यह संवाद पुरुष मानसिकता के पोषक लोगों के मुँह पर करारा तमाचा है जो मात्र देह का भोग करने के बाद कहते हैं हमने स्त्री को जान लिया। जिनके लिए स्त्री शारीरिक सम्बन्ध के लिए है भावनात्मक सम्बन्ध के लिए नहीं। यह पुरुषसत्ता अपने मद में चूर नहीं जानती कि एक स्त्री को पुरुष से सिर्फ शारीरिक सुख ही नहीं चाहिए। उसे चाहिए अपने भावनात्मक संवेगों की कद्र, मनुष्यता की कद्र, बराबरी का दर्जा एवं अधिकतर और मानसिक सामंजस्य पूर्ण जीवनसाथी। यशपाल ने भी अपने 'दिव्या' उपन्यास में दिव्या और मारिश के सम्बन्धों के माध्यम से यह स्थापित करने का प्रयास किया कि सार्थक और प्रेमपूर्ण स्त्री-पुरुष सम्बन्ध परस्पर सम्मान, सहयोग और समानता के द्वारा ही स्थापित हो सकते हैं।

संजय तो ''बस पति ही बना रहता, उसका (रंजना का) दोस्त कभी नहीं बन पाया और वह धीरे-धीरे अपनी दुनिया में डूबती चली गई...दोनों काम से घर आते, संजय टीवी देखता और उसके शरीर से खेलता हुआ सो जाता। वह मानसिक सामंजस्य के लिए सहारा तलाशती।''[9] इसी मानसिक सामंजस्य के सहारे की तलाश की बुनियाद पर टिका था रंजना और सदोष का पवित्र सम्बन्ध। यही मानसिक सामंजस्य और भावनात्मक सहारा मिलता था रंजना को सदोष की मूर्तियों में। रंजना और सदोष के इस रिश्ते को समझने का बोध संजय के दिल और दिमाग के किसी भी सदन के पास नहीं था। वह एक अति महत्त्वाकांक्षी और वर्कोहलिक व्यक्तित्त्व है, परन्तु ''रंजना इन्सान है, उसका अपना व्यक्तित्त्व है, अस्तित्त्व है, सोच है, समझ है। वह भी कुछ चाहती है, इससे उसको (संजय को) कोई सरोकार नहीं था। बस वह पति है, इतना वह बखूबी जानता था।''[10] इस सबके बावजूद रंजना द्वारा जैसा भी हो संजय को स्वीकार करना नारी-जीवन की उस त्रासदी की ओर इशारा है जिसे जीने के लिए पुरुषसत्ता ने उसे अभिशप्त कर दिया है।

संजय के लिए मूर्तिकार एम. सदोश और रंजना का रिश्ता महज दो देहों का रिश्ता था, क्योंकि उसके लिए स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और प्रेम का तात्पर्य स्त्री-पुरुष शारीरिक सम्बन्ध ही था। कदाचित् आज प्रेम का यही पर्याय भी बन गया है, परन्तु स्त्री (रंजना) के लिए प्रेम महज कोई शब्द नहीं, बल्कि ब्रह्माण्ड के समान है। उसके लिए प्रेम अनेक झरनों के रूप में फूटता है, अनेक रास्तों से गुजरता है, अनेक स्वरूप धारण करता है, पर इसे किसी परिभाषा में बाँधा नहीं जा सकता। हरिकथा के समान प्रेम की अनन्त व्याख्याएँ हैं। मीरा, सीता, राधा, उर्मिला सभी के प्रेम, प्रेम के अनेक पर्याय बन गए हैं। नारी माँ, बहन, बेटी, पत्नी, प्रेमिका आदि अनेक रूपों में प्रेम ही तो लुटाती है, परन्तु संजय के पास अपनी महत्त्वाकांक्षी और वर्कोहलिक दुनिया में

इतना अवकाश नहीं था कि वह प्रेम और नारी (रंजना) के इस सम्बन्ध को समझ सकता।

संजय द्वारा रंजना पर विवाहेतर सम्बन्धों का आरोप लगाना दिखलाता है कि युग भले ही बदल जाए, परन्तु पुरुष द्वारा नारी को दूषित करने की परिपाटी टस-से-मस नहीं हुई है। ढींगरा जी के इस 'बेघर सच' में रजना रूपी सीता एक बार फिर दोषित होती है। पुरुष मानसिकता का यह नग्न यथार्थ हमारे समक्ष महाकवि तुलसीदस की उक्ति ''होइहैं वही जो राम रचि राखा...''[11] को नए रूप 'होइहैं वहीं जो पुरुष रचि राखा...' में प्रस्तुत करता है। साथ ही एक और अँधेरा छँटता है कि उत्तर भारत में जन-जन की कण्ठहार तुलसी विरचित मानस के नायक राम भी अन्ततोगत्वा पुरुष ही थे। तब लगता है कि सारी सृष्टि की जन्मदात्री होकर भी नारी इससे अधिक कुछ नहीं है—

*अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।*
*आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।*[12]

कमोबेश नारी-जीवन के इन्हीं मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति है रंजना की माँ का यह संवाद—''मेरी रंजो इतना गुस्सा तेरे लिए ठीक नहीं। यही नारी का जीवन है. ..पति का घर भी कभी औरत का नहीं होता रंजो, वहाँ भी उसे दूसरे घर की, पराए घर की ही कहा जाता है। यह कहते हुए माँ बहुत उदास हो गई थी। कहीं से एक काली-घनी बदली माँ की आँखों में बरस गई, उसके चेहरे और माथे पर उसके छींटे पड़ने लगे। माँ का दर्द, सारी पीड़ा वह उन बूँदों से महसूस कर रही थी।''[13] सुनयना देवी की इन्हीं भावनाओं की प्रतिपुष्टि करता है संजय का कथन ''यह घर मेरा है...''[14] एक बार फिर रंजना के सामने वही बचपन की समस्या 'घर बनाम मकान' का द्वन्द्व खड़ा हो जाता है, जिसे उसने बचपन में भाइयों के साथ जिया था।

अन्ततः 'घर बनाम मकान' की यही उधेड़बुन रंजना को उसके अपने मकान में पहुँचाती है जिसे देखकर घर बनाने की लालसा उसके मन में अँगड़ाई लेने लगती है—यह अब ''घर बन जाएगा, उसका अपना घर, जिसमें वह अपने अस्तित्त्व, व्यक्तित्त्व, अस्मिता और होंद के साथ एक इन्सान के रूप में रहेगी। इसका एहसास ही वातावरण को खुशनुमा बना रहा है।''[15] पति से अलग रहकर अपने अस्तित्त्व, व्यक्तित्त्व एवं अस्मिता से जीने की खुशी और अपने बचपन के सपने 'मेरा भी घर होगा' को मकान में पूरा होने की लालसा लिये रंजना पुरुषसत्ता से प्रताड़ित महिलाओं के लिए समाधानपरक मिसाल है जो स्त्री की परम्परागत समझौतेपरक नियति से परे है। कहानी के समापन की पॉजिटिव अप्रोच अत्यन्त आकर्षक है—''आत्मसम्मान के तेज से चमकता उसका चेहरा शीशे के उन टुकड़ों में दमकने लगा। वह एकटक उन्हें देखती रही, उसे लगा वह पूरे ब्रह्माण्ड में समा गई है...''[16] तमाम रंजनाएँ हमारे

इर्द-गिर्द अपने-आप में सिमटी हुई हैं। शायद ही कोई होगी जो टूटे शीशे में ब्रह्माण्ड तलाशने को माद्दा रखती हो। रंजना की इस काबिल-ए-तारीफ एप्रोच को समर्पित हैं ये पंक्तियाँ–

*रख दो*
*चटके शीशे के आगे*
*मन का कोई खूबसूरत कोना*
*यह कोना*
*हरेक टुकड़े में नजर आएगा।*[17]

अपने बेघर हुए सच की तलाश में शीशे के टुकड़ों के सामने खड़ी रंजना नरेश मेहता के 'प्रथम फाल्गुन' की गोपा के स्वाभिमान की प्रतिमूर्ति प्रतीत होती है। ●

**सन्दर्भ**


1. आर्य, सुषमा एवं अजय नावरिया (सं.), प्रवासी हिन्दी कहानी एक अन्तर्यात्रा, दिल्ली, शिल्पायन प्रकाशन, पृष्ठ-38
2. ढींगरा, सुधा ओम, सच कुछ और था...मध्य प्रदेश, शिवना प्रकाशन, पृष्ठ-17
3. वही, पृष्ठ-18
4. वही, पृष्ठ-11
5. वही, पृष्ठ-13
6. वही, पृष्ठ-99
7. वही, पृष्ठ-97
8. वही, पृष्ठ-105
9. वही, पृष्ठ-111-112
10. वही, पृष्ठ-112
11. रामचरितमानस
12. गुप्त, मैथिलीशरण, यशोधरा, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
13. ढींगरा, सुधा, ओम, सच कुछ और था...,मध्य प्रदेश, शिवना प्रकाशन, पृष्ठ-107
14. वही, पृष्ठ-115
15. वही
16. वही, पृष्ठ-116
17. वही, पृष्ठ-120।

# विभाजन पर कुछ बातें

सर्वेश्वर प्रताप सिंह*

''ईरान में कौन रहता है?''
''ईरान में ईरानी कौम रहती है।''
ईंग्लिस्तान (इंग्लैण्ड) में कौन रहता है?''
इंग्लिस्तान में अँग्रेज कौम रहती है।''
फ्रांस में कौन रहता है?''
फ्रांस में फ्रांसीसी कौम रहते हैं।''
''यह कौन-सा मुल्क है?''
''यह पाकिस्तान है!''
''इसमें पाकिस्तानी कौम रहती होगी?''
''नहीं! इसमें पाकिस्तानी कौम नहीं रहती।''
इसमें सिन्धी कौम रहती है।
इसमें पंजाबी कौम रहती है।
इसमें बंगाली कौम रहती है।
इसमें यह कौम रहती है।
इसमें वह कौम रहती है।
''लेकिन...पंजाबी तो हिन्दुस्तान में भी रहते हैं!
सिन्धी तो हिन्दुस्तान में भी रहते हैं
बंगाली तो हिन्दुस्तान में भी रहते हैं
फिर यह अलग देश क्यों बनाया था?''
''गलती हुई। माफ कर दीजिए। अब कभी नहीं बनाएँगे।''[1]

(हमारा देश—इब्रे इंशा)

इब्रे इंशा की महज कुछ पंक्तियों में भारत के वर्षों लम्बे इतिहास के सबसे लोमहर्षक और भयावह घटना की जिस पीड़ा का अनुभव लेखक की चेतना में रूपायित हुआ है वह हर संवेदनशील भारत-पाकिस्तान-बाँगलादेशी की पीड़ा है जिसने

*हिन्दी विभाग, पॉण्डिचेरी यूनिवर्सिटी, कालापेट-605014

उस कालखण्ड को जिया था और आगे के वर्षों की आने वाली पीढ़ियाँ जो इस इतिहास को जानेंगे, अपने भीतर विभाजन की पीड़ा को महसूस करेंगे। भारत का विभाजन विश्व-इतिहास की सबसे बड़ी अमानवीय घटनाओं में है। भारत-विभाजन मात्र जमीन का बँटवारा नहीं था बल्कि मानव-सभ्यता का बँटवारा था। एक सामाजिक संस्कृति की रक्तरंजित हत्या थी। इस हत्या की भयावहता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है जो एक दिन भारतीय कहलाते थे वो सभी भारत-पाकिस्तान की सीमा द्वारा निर्धारित किए जाने लगे। जो साहित्यकार अखण्ड भारत के थे वो भारतीय और पाकिस्तानी हो गए। उनका यह दर्द उनके लेखन में प्रतिबिम्बित होते हैं। अखण्ड भारत की खुशबू उनके रक्त में समाई थी। मनुष्य को अपनी जड़ों को भूल पाना हमेशा मुश्किल होता है। यही कारण है कि विभाजन की कथाओं का मुख्य स्वर है—खोई हुई मानवीयता की पुनर्रचना, खोई हुई मिट्टी की गन्ध की अनुभूति, खोई हुई जड़ों की तलाश, खोए हुए सम्बन्धों का पुनर्पाठ, खोई हुई साझी भारतीय संस्कृति—जिसे हजारों वर्षों में भारतीयों ने रूप दिया था, का पुनर्निर्माण। यही बात इब्रे इंशा की कहानी में भी परिलक्षित होती है और अफजल हसन रन्धावा 'खोई हुई खुशबू' कहानी में अपने और मुँहबोले चाचा टहल सिंह के माध्यम से अभिव्यक्त करता है :

''चाचा! आज मैं बालिग हूँ। सयाना हूँ। पत्थर की तरह ठोकरें खाकर गोल हो गया हूँ। दुनिया का सर्द-गर्म भी देखा है और आधी दुनिया के शहर भी देखे हैं और उनके वासियों को भी देखा है। उन्हें परखने और समझने की कोशिश भी की है। आज वे बातें, सपनों की बातें लगती हैं, खोए हुए सपने। कितना बदकिस्मत होता है वह आदमी, जिसके सपने खो जाते हैं। आज सोचता हूँ, चाचा तुम तो मेरे पिता के मुँहबोले भाई थे। तुमने उसके साथ पगड़ी बदली थी। तुम, उसके भाई तो नहीं थे। पर जितना प्यार तुमने मुझे दिया, उतना प्यार तो मेरे किसी सगे चाचा ने भी नहीं दिया। कहते हैं खून का रिश्ता बहुत पुराना है, पर फिर भी तुम सगों से भी ज्यादा प्यारे थे। मैं तुम्हें, तुम्हारे पाल से भी अधिक प्यारा, अधिक लाड़ला और अधिक करीब क्यों था?''[2]

इसी प्रश्न से विभाजन पर लिखने वाला रह लेखक गुजरा है। आखिर क्यों ''धर्म के आधार पर भारत दो टुकड़ों में बाँट दिया गया। एक तरफ आजादी का जश्न, दूसरी तरफ तबाही, बरबादी, साम्प्रदायिक हिंसा, लूटपाट, आगजनी, सदियों से साथ-साथ रह रहे लोगों का आपस में बेगाना होना, अपनी धरती और जमीन छोड़कर अपरचित-अनजानी जगहों के लिए प्रयाग, और हैवानियत के वे मंजर, इतिहास जिनका साक्षी है।''[3] कौन-सी वह स्थिति थी जिसके कारण जीवन के महीन-धागों से बुने हुए चाचा-भतीजे के सम्बन्ध को लेकर यह लिखना पड़ा :

''फिर ऐसी आँधी चली जो इन्सान को बेधकर और जमीन को सुनसान बनाकर चली गई। रावी और वसन्तर बढ़कर भयानक हो गईं और लहरें गुस्से में मुँह से झाग उगलती बाहर आ गईं। चारो तरफ उमड़ता हुआ पानी था। तुमने भरी-पूरी हवेली और

भरे हुए घर से, बस दो-चार वस्तुएँ लीं, ताए और अब्बा उस गाड़ी को बर्छियों, छवियों और बन्दूकों के पहरे में लेकर चल दिए थे। गाड़ी पर चाची, पाल, बहन, तुम और रत्तो थे और आपके आस-पास आपकी हिफाजत हम विस्मित से पुल तक गए थे। आप भी निढाल हो गए थे और आपको छोड़ने जाने वाले भी। रास्ते में लूटमार, कत्ल, हमले आदि का डर। और पुल पहुँचकर जब मेरे पिता और आपने एक-दूसरे को बाँहों में भरा तो दोनों बिलख-बिलखकर रोने लगे। आपको डेरे से, पुल से गुजरते और बार-बार मुड़कर पीछे देखते देखकर मेरे पिता कैसे बच्चों की तरह तड़प-तड़पकर रोए थे! आप आगे बढ़कर भीड़ में खो गए थे, पर हम शाम तक क्यों पुल पर खड़े रोते रहे थे?...उस समय मैं आठ साल का था और अब अड़तीस साल का हूँ।''[4]

भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी और भयावह घटना 'विभाजन' है। मिथकों में भले ही राम-रावण युद्ध और महाभारत-युद्ध की भयानकता प्रसिद्ध है परन्तु बीसवीं सदी के तीन सबसे बड़े नरसंहार प्रथम-विश्वयुद्ध, द्वितीय-विश्वयुद्ध और भारत-विभाजन हैं। ये तीनों अमानवीयता की पराकाष्ठा को लाँघने वाले नरसंहार थे।

भारत-विभाजन का पहला चरण 1905 में बंग-विभाजन के दौरान अँग्रेजों ने प्रारम्भ किया था। उसका दूसरा चरण भारत-पाक विभाजन के रूप में 1947 में होता है और तीसरा 1971 में बाँग्लादेश के उदय में होता है। विभाजन की प्रक्रिया वर्तमान में कश्मीर के मुद्दे, हिन्दुत्व, भगवाकरण, नक्सलवाद को लेकर अब भी जारी है।

विभाजन के पीछे कौन-सी शक्तियाँ कार्यरत थीं, इसकी पड़ताल इतिहास और साहित्य में बार-बार की गई है। सभी इतिहासकार इस तथ्य पर एकमत हैं कि 1857 के गदर में अँग्रेजों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के शक्ति-प्रदर्शन को देखकर अनुमान कर लिया था कि भारत में औपनिवेशिक सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिए इस एकता को तोड़ना होगा। भाषा-विवाद से लेकर से लेकर बंग-विभाजन के पहले तक औपनिवेशिक नौकरशाही में भारतीयों की भागीदारी में हिन्दू बनाम मुस्लिम की हवा को यथासम्भव बढ़ाया गया और साम्प्रदायिकता की रेखा खींची गई। भारत में नवजागरण की चेतना के प्रसार के दौरान धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में जिन नव-दृष्टिकोण के साथ परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया गया उसमें भी जाने-अनजाने साम्प्रदायिकता का बीज बोया गया। उदाहरणार्थ ''आर्य-समाज को एक मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन से रोकना भी था। इसके कारण उन्होंने दूसरे धर्मों के खिलाफ जिहाद छेड़ दिया। यह जिहाद बीसवीं सदी में भारत में साम्प्रदायिकता के प्रसार में सहायक कारण बन गया। आर्य-समाज के सुधार कार्य ने समाज की बुराइयाँ खत्म करके जनता को एकबद्ध करने का प्रयास किया, मगर उसके धार्मिक कार्य सम्भवतः अचेतन रूप में ही विकासमान हिन्दुओं, मुसलमानों, पारसियों, सिखों और ईसाइयों के बीच पनप रही राष्ट्रीय एकता को भंग करने की ही प्रवृत्ति थी। उससे यह बात स्पष्ट नहीं थी कि भारत में राष्ट्रीय एकता धर्म-निरपेक्ष आधार पर तथा धर्म से परे रहकर ही सम्भव है ताकि यह सभी धर्मों के लोगों को समेट सके।''[5] दूसरी ओर मुसलमानों में सैयद

अहमद खान मुस्लिम-समाज नवोत्थान के लिए कार्य कर रहे थे और उनकी दृष्टि धार्मिक-सहिष्णु थी। ये धर्म को व्यक्तिगत विषय मानते थे। राष्ट्रीय एकता के समर्थक के रूप में समाज-परिष्कार के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए। पर जीवन के अन्तिम समय में अँग्रेज-विरोधी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन में हिन्दू-वर्चस्व की शिकायत करने लगे। जिससे प्रारम्भिक हिन्दू-विद्वेष की भावना मुसलमानों के अन्तस्थल में पनपने लगी और विवेकानन्द की भाँति कर्म को धर्म से श्रेष्ठ मानने वाले तथा देशभक्ति का गीत गाने वाले मुहम्मद इकबाल अपने जीवन के बाद के वर्षों में मुस्लिम अलगाववाद का पुरजोर समर्थन किया जिसकी परिणति विभाजन की घृणित त्रासदी के रूप में हुआ। यही नहीं प्रत्येक अतीत का प्रभाव समाज के आने वाले कल पर भी होता है। वर्तमान समय की राजनीति में जिस कट्टरवाद को पनपते हुए देख रहे हैं उसका भी प्रभाव भविष्य पड़ेगा। अतएव इब्रे इंशा की पंक्ति—"गलती हुई। माफ कर दीजिए। अब कभी नहीं बनाएँगे।"—पर हमें पुनः विचार करना चाहिए।

## भारत की दो आँखें

उपनिवेशकालीन भारत को अलग-अलग दो आँखों से देखा गया—सामाजिक आँख और साम्प्रदायिक आँख। इस सन्दर्भ को समझने के लिए दो अध्यक्षीय भाषणों को सामने रखना होगा। पहला भाषण मौलाना अबुल कलाम आजाद भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस 1940 का अध्यक्षीय भाषण है। इस भाषण में अबुल कलाम भारत की सामाजिक पहचान के सन्दर्भ में बोलते हैं—

"यह हिन्दुस्तान के इतिहास की नियति थी कि बहुत सारी नस्लें और संस्कृतियाँ उसकी तरफ खिंचती चली गईं। बहुतों ने अतिथियों के स्वागत में बिछी हुई इस सरजमीं में अपना ठौर बनाया और बहुत सारे काफिले आकर यहाँ रुकते रहे... । हिन्दुओं और मुसलमानों के ग्यारह सदी के साझा इतिहास ने अपनी साझा उपलब्धियों से इसकी संस्कृति को समृद्ध बनाया है। हमारी भाषा, हमारी कविता, हमारा साहित्य, हमारी संस्कृति, हमारी कला, हमारा पहनावा, हमारे तौर-तरीके, हमारे रीति-रिवाज और हमारे जीवन में घटने वाली असंख्य घटनाएँ और हरेक चीज हमारे साझा प्रयासों की मुनादी करते हैं... । इन हजारों सालों की हमारी साझी जिन्दगी ने हमें एक साझी राष्ट्रीयता के रूप में ढाला है। चाहे हम पसन्द करें या न करें, हम एक भारतीय राष्ट्र बन चुके हैं, एक है और अविभाज्य है। कोई भी अतिकल्पना या नकली योजना इस एकता को विखण्डित नहीं कर सकती।"[6] कलाम जी ने जिस अतिकल्पना की बात की थी वह मुस्लिम लीग की कल्पना थी और योजना ब्रिटिश शासन की। इसी वर्ष 1940 के 23 मार्च को ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन के लाहौर प्रस्ताव (इस प्रस्ताव के लेखक मो. जफरूल्लाह खान थे।) में पाकिस्तान नामक मुस्लिम देश बनाए जाने की अतिकल्पना का पूर्ण अनुमोदन किया था।

भारत को साम्प्रदायिक आँख से देखते हुए जिन्ना 1940 में मुस्लिम लीग के सामने अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहते हैं–

''हिन्दुस्तान की समस्या महज एक अन्तर-साम्प्रदायिक समस्या नहीं बल्कि एक अन्तरराष्ट्रीय समस्या है और इसका समाधान इसी रूप में किया जाना चाहिए। यह महज एक ख्याब है कि हिन्दू और मुसलमान एक साझी राष्ट्रीयता विकसित कर सकते हैं...और एक एकीकृत हिन्दुस्तानी राष्ट्र का गलत विचार अपनी सीमाओं को पार कर गया है। यह हमारी समस्या का सबसे बड़ा कारण है और अगर हम वक्त रहते अपनी कार्यवाहियों को संशोधित करने में नाकामयाब रहे तो यह विखण्डन की ओर ले जाएगा। हिन्दू और मुसलमान दो विभिन्न धार्मिक दर्शनों, सामाजिक रीति-रिवाजों और साहित्य से ताल्लुक रखते हैं। उनमें रोटी-बेटी का रिश्ता नहीं है और वे हकीकत में दो अलग-अलग सभ्यताओं से ताल्लुक रखते हैं, जो मुख्यतः परस्पर विरोधी विचारों और मान्यताओं पर आधारित हैं। जीवन के बारे में और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बिल्कुल अलग-अलग है।''[7] जिन्ना के इस अभिभाषण में जिस भारत का स्वरूप निर्मित हुआ है उसमें सह-अस्तित्त्व की कोई गुंजाइश नहीं दिखती।

लीग समर्थकों की ही कड़ी में अतिहिन्दूवादियों की विचारधारा को परखना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में सबसे पहले बतौर अध्यक्ष सावरकर का दिया हुआ नारा 'राजनीति का हिन्दूकरण और हिन्दुत्व में सशस्त्रीकरण'[8] महत्त्वपूर्ण है। यह नारा उन्होंने 1937 में दिया था। इस क्रम में सावरकर द्वारा औसत हिन्दू होने की पहचान भी महत्त्वपूर्ण है–''उनके अनुसार, हिन्दू वह व्यक्ति है जो भारत को अपनी मातृभूमि, पितृभूमि (अपने पूर्वजों की भूमि) और पुण्यभूमि मानता है। भारत हिन्दुओं की भूमि है क्योंकि उनकी नस्ल या जाति भारतीय है और क्योंकि हिन्दू धर्म भारत में ही उत्पन्न हुआ है।''[9] सावरकर का यह औसत हिन्दू ही भारत में रहने योग्य है। सावरकर की इस परिभाषा में साम्प्रदायिक विलगाव स्पष्ट है।

## प्राच्यवाद और विभाजन

भारत में औपनिवेशिक सत्ता के स्थापित होते ही भारत-अध्ययन के उद्देश्य से प्राच्यविद्या का अध्ययन केन्द्र कोलकाता में स्थापित हुआ। कोलकाता में स्थापित 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना 1784 में होती है जिसका उद्देश्य भारत-सम्बन्धी ज्ञान का अध्ययन और विश्लेषण था और भारतीय समाज को बौद्धिक-पराधीन बनाकर औपनिवेशिक शासन को स्थायी मजबूत बनाना। यह देखने की बात है कि उपनिवेशवाद और प्राच्यवाद दोनों एक साथ आते हैं। इस तरह दोनों, सैन्यबल और बुद्धिबल, भारत में औपनिवेशिक सत्ता का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कम्पनी शासन के इसी स्वरूप को लक्ष्य करते हुए शम्भुनाथ लिखते हैं–''भारतीय चित्त में पश्चिम एक साथ उपनिवेशक और बौद्धिक सहयात्री दोनों रूप में सामने आया है।''[10] एडवर्ड सईद ने भी इसी सन्दर्भ में लिखा है–''प्राच्य का

प्राच्यीकरण केवल इसलिए नहीं हुआ कि इसे प्राच्य के रूप में खोजा गया था...बल्कि इसलिए हुआ कि यह सम्भव था कि अधीन बनाकर प्राच्य निर्मित किया जा सकता था।''[11] ताकि औपनिवेशिक शासन को वैधता प्राप्त हो और जिसे ग्राम्स्की सहमतिपरक वर्चस्व कहता है की, स्थापना हो सके।

प्राच्यवाद ने उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति हेतु 'आधुनिकता बनाम परम्परा' का रूपक तैयार किया। यूरोपीय इतिहासकारों ने स्वयं को सभ्य, श्रेष्ठ और आधुनिक बताया जबकि हम भारतीयों को इतिहासविहीन, बर्बर, असभ्य और परम्परावादी सिद्ध किया। हमारे ज्ञान-विज्ञान को विकास के अयोग्य सिद्ध किया, हमारे इतिहास का उपनिवेशवादी पाठ निर्मित किया और हमें धर्म और जाति-वर्ण के आधार पर बाँट दिया। शम्भुनाथ के शब्दों में 'कहना न होगा कि भारत में प्राच्यवाद की सबसे विध्वंसक भूमिका 'अभेद में भेद' दिखाना है। इसने सभी मुस्लिम देशों के लिए अरब या मुसलमान शब्द का इस्तेमाल उनकी विविधताओं को मिटाने और 'भेद में अभेद' लाने के लिए किया, जबकि भारत में उसका उद्देश्य 'अभेद में भेद' पैदा कर भिन्नता लाना था, ताकि इसकी बहुलता आन्तरिक तनाव का रूप ले।''[12] 'अभेद में भेद' करने की इनकी दूसरी नीति 'आर्य-अनार्य' विवाद को पैदा करना था जिसके अन्तर्गत इन्होंने भारत को 'आर्य और द्रविड़' संस्कृतियों में विभाजित करने का प्रयास किया। भाषा के स्तर पर अँग्रेजों ने हिन्दी बनाम उर्दू को तूल देकर सम्प्रदायवाद को बढ़ावा दिया। इस तरह से ''अँग्रेजी राज में भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, बौद्ध संस्कृति, जैन संस्कृति, सिख संस्कृति, देसाई संस्कृति और जनजातीय संस्कृति का जोड़ मानने की रणनीति शुरू हुई।''[13]

यूरोपीय प्राच्यविदों द्वारा निर्मित इतिहास के विरोध में भारतीय राष्ट्रवादियों ने भी इतिहास लेखन प्रारम्भ किया। जिसमें से कुछ भारतीय इतिहासकार यूरोपीय मत के पोषक थे तो कुछ इतिहासकार भारत में रूप ले रहे राष्ट्रवादी विचारधारा से प्रेरित होकर अतीत की अतिरंजना की और मध्यकालीन मुस्लिम-शासन के प्रति कठोर रवैया अपनाया। नतीजन दोनों पक्षों के इतिहासकारों ने इकहरी आलोचना किया।

### भारतीय राष्ट्रवाद : खण्डित राष्ट्रवाद बनाम विभाजन

विभाजन को अक्सर अँग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' नीति का परिणाम मान लिया जाता है। जबकि यह एक सतही व्याख्या है। अँग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति विभाजन का एक काला पक्ष जरूर है परन्तु इसके लिए भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन भी उत्तरदायी है। इसे समझने के लिए हमें नवजागरण की चेतना की ओर पुनः दृष्टि करना होगा। नवजागरण की चेतना की महत्त्वपूर्ण देन है भारतीयों में राष्ट्रवादी चेतना का विकास। लेकिन साथ-ही-साथ यह बात भी विचारणीय है कि राष्ट्रवादी चेतना किस रूप में आकार लेती है। नवजागरण की चेतना ने जहाँ भारतीय जनमानस को नवीन वैज्ञानिक चेतना से सम्पन्न किया है और भारतीय समाज का

पुनर्पाठ कर उसकी बुराइयों का परिष्कार करने का प्रयास किया है, वहीं नवजागरण के नेताओं ने साम्प्रदायिक चेतना को भी रूप दिया है। जिसका प्रभाव भविष्य में गहरा होकर राष्ट्रवादी चेतना की मानसिकता पर पड़ा। सन् 1939 में गाँधी जी ने नवजागरण पर टिप्पणी करते हुए लिखा था—''उन्नीसवीं सदी के नवजागरण ने जनजीवन के भेदों को दूर करने की बजाय उन्हें बढ़ाया दिया। लोगों में मौजूद एकता को इसने कमजोर किया। भारतीय होने के बजाय हिन्दू और अधिक हिन्दू हो गए, मुसलमान और अधिक मुसलमान हो गए।''[14] भारतीय राष्ट्रवाद का चरित्र समय के साथ साम्प्रदायिक होता गया। इसी को रोमिला थापर जी 'धार्मिक राष्ट्रवाद' कहती हैं। इस धार्मिक राष्ट्रवाद के निर्माण में इतिहास-पाठ की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण रही है। इस सन्दर्भ में रोमिला थापर जी लिखती हैं—''हिन्दू धार्मिक राष्ट्रवाद ने इतिहास को जैसे देखा, उस आख्यान के अनुसार हिन्दुओं का अतीत वैभवपूर्ण और भव्य था जिसे मुस्लिम आक्रमणकारियों (विजेताओं) ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इस कारण हिन्दू राष्ट्र का जन्म एक न्यायसंगत उद्देश्य है।''[15] वहीं दूसरी ओर मुस्लिम राष्ट्रवादियों का मानना था—''...हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग राष्ट्र हैं...।''[16] जिसका परिणाम यह होता है कि मुस्लिम धार्मिक राष्ट्रवाद ने अलग मुस्लिम-राष्ट्र की माँग की। दो विरोधी मानसिकता ने जन्म लिया जिसको अँग्रेजों ने मजबूत किया ही था, साथ ही सत्ता-संघर्ष में मुस्लिमों की हिस्सेदारी के प्रश्न पर भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन दो परस्पर विरोधी ध्रुवीकरण का शिकार हो गया। इस स्थिति में काँग्रेस पूरी तरीके से राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने में अफसल सिद्ध हुई।

यूरोप में राष्ट्रवाद की अवधारणा औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवाद के गर्भ से जन्म लिया जबकि भारत में इसके विपरीत भारतीय राष्ट्रवाद औनिवेशिक द्वार से आया। इसका वर्ग-चरित्र औपनिवेशिक विचारधारा से प्रेरित था। जिसका प्रतिफल यह हुआ कि भारतीय राष्ट्रवाद दोहरे तनाव—बाहरी और आन्तरिक का शिकार हो गया। बहुसंख्यक जनता की उपेक्षा की गई और चन्द नवभारतीय पूँजीपतियों, बुद्धिजीवियों और सत्ता-लोभी स्वराज्ियों के हाथ का खिलौना बन गई—वह चाहे नेहरू हों, जिन्ना हों या फिर हिन्दुत्ववादी संगठन और मुस्लिम-लीगी। इसमें कोई शंका नहीं है। दूसरी तरफ भारतीय समाज धर्म, जाति, लिंग और वर्ग में विभाजित होकर पतनोन्मुखी हो रहा था और सम्पत्ति का प्रभुत्व अक्षुण्ण रहा। सामान्य जनता उपेक्षित ही रही। इस सन्दर्भ में प्रेमचन्द की 'आहुति' कहानी की नायिका रूपमणि भारतीय राष्ट्रवाद के चरित्र पर कहती है—''अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अँग्रेजी महाजनों की धनलोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही आज हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ाएगी कि वे विदेशी नहीं, स्वदेशी हैं? कम-से-कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाएँ। मैं समाज की ऐसी व्यवस्था देखना

चाहती हूँ, जहाँ कम-से-कम विषमता को आश्रय न मिल सके।'' प्रेमचन्द की यह कहानी उस समय प्रकाशित हुई जब भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन आन्तरिक और बाह्य समस्याओं से जूझ रहा था।

## भारत-विभाजन और साहित्य

भारत-विभाजन की त्रासदी पर साहित्य में बार-बार लिखा गया है और इसके कारणों की पड़ताल लगातार साहित्य में जारी है। इस क्रम में यशपाल के 'झूठा-सच' उपन्यास की चर्चा महत्त्वपूर्ण है। इसमें यशपाल ने विभाजन की त्रासदी और उसके कारणों पर सविस्तार लिखा है। विभाजन के राजनीतिक और साम्प्रदायिक सन्दर्भों का वर्णन झूठा-सच में पुरी, असद और तारा के माध्यम से किया है। उपन्यास में पुरी विभाजन के पीछे छिपे राष्ट्रवादी नेताओं के राजनीतिक स्वार्थ को पहचानता है और अपनी प्रेमिका कनक से आजादी के विषय में कहता है :

''हमारे लिए क्या स्वतन्त्रता है?'' पुरी खिन्नता से बोला, ''हम लोगों के तो घर-बार उजड़ रहे हैं। हम लोग बलिदान हो रहे हैं। यह लोग तो दूसरों के बलिदानों से होम करके उसका श्रेय ले लेना जानते हैं। यह लोक अपने-आपको समझते क्या हैं। सन् 42 में जब संकट था तो फोन करके जेल चले जाते थे कि पुलिस का थप्पड़ न सहना पड़ जाए। हमने भी स्वतन्त्रता के लिए संकट सहा है, जेल भुगती है। अब हमारे लिए राष्ट्र-निर्माण के उपदेश रह गए हैं!''[17]

साम्प्रदायिकता, ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियों और भारतीय नेताओं की स्वार्थपरता ऐसे कारण थे जिन्होंने भारत को विभाजन द्वार पर ला पटका था। भारत की इन तत्कालीन परिस्थितियों से उपजी समस्याओं पर यशपाल ने हीरा सिंह और प्रद्युम्न के माध्यम से लिखा है :

''हिन्दुस्तान की आजादी का दुश्मन ब्रिटिश साम्राज्यवाद तो है ही जो हिन्दुस्तानी कौम के हिन्दू और मुस्लिम भागों को आपस में लड़ाकर अपने वश में किए हुए है, परन्तु मुल्क की आजादी के सबसे बड़े दुश्मन वे लोग हैं जो हिन्दुस्तान की राजनीति को साम्प्रदायिक संघर्ष का दृष्टिकोण दे रहे हैं। हिन्दुस्तान की आजादी और एकता आज हिन्दू-मुस्लिम एकता के आधार पर ही सम्भव है। साम्प्रदायिक उत्तेजना के बल में, ब्रिटिश नौकरशाही की छत्रछाया में, मन्त्रिमण्डल बनाने की अपनी भूख पूरी करने के प्रयत्न का परिणाम आपके सामने है।''[18]

ब्रिटिश चाहते थे कि भारत में साम्प्रदायिक स्थिति आकार लेती रहे। उन्होंने साम्प्रदायिक ताकतों को ताकत ही दी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग जैसे साम्प्रदायिक संगठनों से जुड़े लोग कभी अँग्रेजी शासन के दमन का शिकार नहीं हुए। तथ्य तो यह है कि औपनिवेशिक सत्ता इन ताकतों को बने रहने देना चाहती थी। इंग्लैण्ड के भारत मन्त्री लार्ड बिरकेनहेड ने 1925 में वायसराय रीडिंग को लिखा गया था—''मैंने हमेशा से हिन्दुस्तान के साम्प्रदायिक हालात से एक स्थायी

और ऊँची उम्मीद पाली है।''[19] तमस उपन्यास में इस स्थिति को लीजा और रिचर्ड के आपसी सम्भाषण से समझा जा सकता है। लीजा और रिचर्ड सोए हुए थे तभी 'अल्लाह हो अकबर' की आवाज पर लीजा रिचर्ड से पूछती है :

''यह आवाज इस वक्त क्यों उठाई जा रही है? जरूर कोई धार्मिक पर्व होगा।''

''रिचर्ड मन-ही-मन हँस दिया।''

''यह धार्मिक पर्व नहीं है लीजा, दरअसल शहर में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच फसाद हो गया है।''

''तुम्हारे रहते फसाद हो गया है रिचर्ड?''

''रिचर्ड को लगा जैसे सब कुछ जानते-बूझते हुए लीजा यह अटपटा सवाल कर रही है।

''हम इनके धार्मिक झगड़ों में दखल नहीं देते। लीजा, तुम जानती तो हो।''[20]

इसी तरह लीजा जब हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा के विषय में रिचर्ड से पूछती है तो इस विवाद को रिचर्ड शासक-वर्ग के लिए लाभकारी बताता है :

''तुम उनका झगड़ा निपटाओगे नहीं?''

रिचर्ड मुस्करा दिया और कॉफी का घूँट भरकर सहज भाव से बोला, ''मैं उनसे कहूँगा, तुम्हारे धर्म के मामले तुम्हारे निजी मामले हैं, इन्हें तुम्हें खुद सुलझाना चाहिए। सरकार तुम्हारी करने के लिए पूरी तरह से तैयार है।''

''तुम उनसे यह भी कहना कि तुम एक ही नस्ल के लोग हो, तुम्हें आपस में नहीं लड़ना चाहिए। तुमने मुझे यहीं बात बताया था न रिचर्ड?''

''जरूर कहूँगा, लीजा!'' रिचर्ड ने तनिक व्यंग्य से कहा।

दोनों चुपचाप कॉफी के घूँट भरते रहे, फिर सहसा लीजा का चेहरा चिन्तित हो उठा, ''तुम्हें तो कोई खतरा नहीं है ना, रिचर्ड?''

नहीं, लीजा। अगर प्रजा आपस में लड़े तो शासक को किस बात का खतरा है।''[21]

तमस उपन्यास के लेखक ने विभाजन के दौरान की विभाजित मानसिकता पर लिखा है :

''तुर्क आए थे पर वे अपने ही पड़ोसवाले गाँव से आए थे। तुर्कों के जेहन में भी यही था कि वे अपने पुराने दुश्मन सिखों पर हमला बोल रहे हैं और सिखों के जेहन में भी वे दो सौ साल के पहले के तुर्क थे जिनके साथ खालसा लोहा लिया करता था। यह लड़ाइयों की शृंखला में एक कड़ी ही थी। लड़ने वालों के पाँव बीसवीं सदी में थे, सिर मध्ययुग में।''[22]

शासक-वर्ग की भलाई शासितों के आपसी संघर्षों पर निर्भर होती है। शासित जितना ज्यादा आपस में बँटे होंगे शासक को शासन करने और अपनी स्वार्थलिप्सा को पूर्ण करने में उतनी ही मदद मिलती है। तमस उपन्यास का रिचर्ड यह बात जानता है। वह अपनी पत्नी लीजा से कहता है :

''डार्लिंग, हुकूमत करने वाले यह नहीं देखते प्रजा में कौन-सी समानता पाई जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं?''[23]

तथ्य यह है कि इन असमानताओं की अपनी प्रतीक-व्यवस्था और अर्थ-परम्परा है जिनका सम्बन्ध उनके संस्कृति और धार्मिक लोकाचार से होती है। ये प्रतीक उनकी स्वतन्त्र-सत्ता के मानदण्ड होते हैं। इन प्रतीकों का दुरुपयोग करने में सांस्कृतिक-साम्प्रदायिक-विवाद उत्पन्न हो जाता है। तमस उपन्यास की शुरुआत में मुराद अली नत्थू को पैसा देकर मस्जिद वाली गली में सूअर मरवाकर फेंकवा देता है। नतीजन मुस्लिम-हिन्दू जनता के मध्य साम्प्रदायिक असन्तोष फैल जाता है जो आगे दंगे का रूप ले लेता है।

विभाजन के सन्दर्भ में आम हिन्दू-मुस्लिम जनता की मानसिकता क्या थी, इस तथ्य को भी साहित्य में उकेरा गया है। राही मासूम रजा के उपन्यास 'आधा गाँव' में फुन्नन मियाँ जनसाधारण की भावना के प्रतीक हैं। जनसाधारण के लिए भारत-पाकिस्तान का कोई अर्थ नहीं है। उसके लिए अपना गंगौली ही हिन्दुस्तान-पाकिस्तान है। गंगौली में ही उसकी पीढ़ियाँ खाक हुई हैं तो उसके विचार में विभाजन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। वह गंगौली की मिट्टी से जुड़ा है और उसी से जुड़ा रहना चाहता है। फुन्नन मियाँ और फारुक के आपसी सम्भाषण में यह बात साफ जाहिर हो रही है—

''आदाब चचा!'' अनवारुल हसन राकी का लड़का फारुक आ गया।

''एक भैया, तोरे पाकिस्तान का का हाल है?''

''वह तो बन रहा है!''

''काहे न बनिहे, भैया! तू कह रइयो तो जरूर बनिहे। बाकी ई गंगौली पाकिस्तान में जइहे कि हिन्दुस्तान में रइहे?''

''इ तो हिन्दुस्तान में रहेगी। पाकिस्तान में सूबा सरहद, पंजाब, सिन्ध और बंगाल होगा। और कोशिश कर रहे हैं हम लोग कि मुस्लिम यूनिवर्सिटी भी पाकिस्तान में हो जाए।''

''गंगौली के वास्ते ना न करिह्यो कोशिश?''

''गंगौली का क्या सवाल है?''

''सवाल न है त हम्में पाकिस्तान बनने या न बनने से का?''

''एक इस्लामी हुकूमत बन जाएगी।''

''कहीं इस्लाम है कि हुकूमत बन जैयहे! ऐ भाई, बाप-दादा की कबुर हियाँ है, खेती-बाड़ी हियाँ है। हम कोनो बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान जिन्दाबाद में फँस जाएँ!''

''अँग्रेजों के जाने के बाद यहाँ हिन्दुओं का राज होगा!''

''हाँ-हाँ त हुए दा। तू त ऐसा हिन्दू कहि रहियो जैसे हिन्दुआ सब भुकाऊँ हैं कि काट लिह्यन। अरे, ठाकुर कुँवरपाल सिंह त हिन्दुए रहें। झिंगुरियो हिन्दू है। ए

भाई, ओ परशुरमवा हिन्दुए न है कि जब शहर में सुन्नी लोग हरामजदगी किहिन कि हम हजरत अली का तावूत न उठे देंगे, काहे कि ऊ शिआ लोग तबर्रा पढ़त हएँ, त परशरमुवा ऊधम मचा दिहीस कि ई तावूत उट्ठी और ऊ तावूत उट्ठा। तोहरे जिन्ना साहब हमारा तावूत उठवाए न आए!''[24]

सात आसमान उपन्यास में अब्बा मियाँ की हमदर्दी भले ही पाकिस्तान से हो पर वे वहाँ जाना नहीं चाहते हैं। उनकी भावनाएँ उनके अपने गाँव के साथ जुड़ी हैं। अब्बा मियाँ से एक बार किसी ने पूछा कि आप पाकिस्तान क्यों नहीं चले जाते? उसके प्रश्न पर वे कह उठते हैं :

''जनाब, ये पाकिस्तान है किस चिड़ियाँ का नाम?''

उसने कहा, ''वहाँ आपको जमींदारी मिलेगी।''

''जमींदारी, आप समझते हैं क्या है? गुड्डे-गुड़ियों का खेल नहीं है जमींदारी। हम यहाँ जमींदारी करते थे तो इसलिए कि दो सौ साल से हमारा खानदान यहाँ रह रहा है। चप्पे-चप्पे से वाकफियत है। हजारों मिलने वाले और सैकड़ों दोस्त हैं। यहाँ की जुबान और लोगों से वाकिफ हैं, वो हमसे वाकिफ हैं...अगर बिलोचिस्तान में मुझे जमींदारी मिल भी गई तो मैं कर सकता हूँ? जमींदारी एक आदमी बस का तो रोग है नहीं। न मैं उन लोगों को जानूँ, न मैं उनकी जुबान जानूँ और न वो मेरी जुबान जानें...न वहाँ मेरे दोस्त, न ताल्लुकात...तो जनाब मैं वहाँ जमींदारी करूँगा या जूते खाऊँगा। जनाब, मुझे ऐसी जमींदारी नहीं करनी। मैं बगैर जमींदारी के यहीं भला हूँ।''[25]

भारत विभाजन के इतिहास को यदि जानना है तो 'तमस', 'झूठा-सच' और महुआ माँझी के उपन्यास 'मैं बोरिशिल्ला' को आमने-सामने रखकर पढ़ा जाना चाहिए। 'मैं बोरिशिल्ला' पाकिस्तान-विभाजन पर लिखा गया है जो कि बाँग्लादेश के उदय की कहानी को सामने रखता है तथा उस समय पश्चिमी पाकिस्तान किस प्रकार तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान के प्रति हिंसात्मक रवैया अपनाता है। बंगाली-हिन्दू और मुसलमानों को धर्म के आधार पर बाँटकर 1947 वाली स्थिति पुनः पैदा करता है इसका आख्यान महुआ माँझी 'मैं बोरिशिल्ला' में प्रस्तुत करती हैं। विभाजन के विषय में यही धारणा हर एक क्षेत्र के भारतीय जनसाधारण की है। राजनीतिक दबाव और स्वार्थ के चलते बँटवारा धरती का हुआ था लेकिन जनसाधारण की मानसिकता का नहीं हुआ था। विस्थापन और विभाजन त्रासदी है जिसे कोई समाज सहज स्वीकार नहीं करता जब तक कि कोई बड़ी शक्ति मजबूर और हिंसक न बना दे। वर्तमान भारत में पुनः राजनीतिक-स्वार्थ हावी हो रहा है। चारो तरफ विभाजन की हवा पुनः बह रही है। राजनीति में धर्म और सम्प्रदाय का मुद्दा उठाया जा रहा है। कुछ लोग असुरक्षा-असुरक्षा की बात करके विभाजनकालीन भय को उकसा रहे हैं। यह वर्ग बुद्धिजीवी समाज है जो परजीवी की तरह जनसाधारण के पैसों पर रसगुल्ला उड़ा रहा है। इन परिस्थितियों में विभाजन के सन्दर्भ को पुनः समझना महत्त्वपूर्ण हो गया है। ●

## सन्दर्भ


1. विभाजन की कहानियाँ, हिन्दी समय डॉट कॉम
2. विभाजन की कहानियाँ, हिन्दी समय डॉट कॉम
3. तमस : एक पुनर्पाठ, सं. विनोद शाही, आधार प्रकाशन, पंचकुला हरियाणा, 2006, पृ. 111
4. विभाजन की कहानियाँ, हिन्दी समय डॉट कॉम
5. आधुनिक भारत का इतिहास विपिन चन्द्र, पृ. 221
6. भारत : गाँधी के बाद, रामचन्द्र गुहा, अनुवाद सुशान्त झा, पेंगुइन बुक्स, 2011, पृ. 30
7. भारत : गाँधी के बाद, रामचन्द्र, गुहा, अनुवाद सुशान्त झा, पेंगुइन बुक्स, 2011, पृ. 30-31
8. 'इस कोलाहल में' लेख, आनन्द पटवर्धन, जनसत्ता (रविवारी), मई 17, 2015
9. मैं हिन्दू क्यों हूँ, शशि थरूर, अनु. युगांक धीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2018, पृ. सं. 178
10. उपनिवेशवाद और हिन्दी आलोचना (रामचन्द्र शुक्ल का वैचारिक संघर्ष), शम्भुनाथ, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ. 30
11. उपनिवेशवाद और हिन्दी आलोचना (रामचन्द्र शुक्ल का वैचारिक संघर्ष), शम्भुनाथ, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ. 31
12. उपनिवेशवाद और हिन्दी आलोचना (रामचन्द्र शुक्ल का वैचारिक संघर्ष), शम्भुनाथ, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014 पृ.42
13. भारतीय समाजशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय, अमित कुमार शर्मा, डी.के. प्रिण्ट वर्ल्ड (प्रा.), लि. द्वितीय संस्करण, 2011, पृ. 12
14. संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध, पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण, 2008, पृ. 41
15. भारत में पब्लिक इण्टेलेक्चुअल, पृ 18
16. वही, पृ. 17
17. झूठा-सच, यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2018, पृ.346
18. झूठा-सच, यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबााद, संस्करण 2018, पृ. 106
19. भारत : गाँधी के बाद, रामचन्द्र गुहा, अनुवाद सुशान्त झा, पेंगुइन बुक्स, 2011, पृ. 33
20. तमस, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृ. 132
21. तमस, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृ. 54
22. तमस, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृ. 253
23. तमस, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृ. 52
24. आधा गाँव, राही मासूम रजा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 154-155
25. सात आसमान, असगर वजाहत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 155।

# भारतीय नारी की मार्मिक वेदना
# संदर्भ 'सिरी उपमा जोग'

डॉ. प्रमोद कुमार यादव*

'सिरी उपमा जोग' एक ऐसी ग्रामीण बेबस स्त्री की व्यथा-कथा है जिसको उसका पति उच्च पद पर नौकरी मिलने के बाद त्याग देता है। फिर वह दर-दर की ठोकर खाने को विवश हो जाती है। दरअसल आज के भौतिकवादी, दिखावटी जीवन के विडम्बनाओं की तहकीकात करती हुई यह एक अलग नजरिए, अगल तेवर और अलग शिल्पवाली कहानी है, जिसका शिकार अन्ततः एक स्त्री ही होती है। वो स्त्री जिसे हमारा समाज जब चाहता है, तब हिंसा एवं अपनी अमानवीय हरकतों का शिकार बना देता है। वस्तुतः ग्रामीण मानसिकता जब तक रहती है, आदमी सीधा-सच्चा, सरल, ईमानदार बना रहता है, रिश्तों की संवेदना बनी रहती है, वही अपनी जड़ों से जुड़ा रहता है, एक-दूसरे से भावनात्मक जुड़ाव रहता है। एक-दूसरे के सुख-दुःख में भागीदारी देता है और उसमें इन्सानियत भी कायम रहती है, किन्तु जैसे ही उस पर शहरी सोच एवं भौतिकवादी मानसिकता हावी हो जाती है, बाजारवाद, हावी हो जाता है, कोरा अहंकार बढ़ जाता है, स्वार्थ-सिद्धि बढ़ जाती है, तो उसके रिश्तों में व्याप्त प्रेम कैसे टूटकर बिखर जाता है, व्यक्ति के व्यक्तित्त्व में कितनी तेजी से परिवर्तन होता है, उसको बड़ी ही बेबाकी एवं सजीवता से यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत करती है 'सिरी उपमा जोग' कहानी।

कहानी का नायक जब गाँव में रहकर पढ़ाई करता है तब पत्नी इसको पढ़ने में पूरा सहयोग करती है। इसका वर्णन शिवमूर्ति जी ने कुछ यूँ किया है, ''बी.ए. पास करते-करते कमला पैदा हो गई थी। उसके बाद बेरोजगारी के वर्षों में लगातार हिम्मत बँधाती रहती थी। अपने गहने बेचकर प्रतियोगिता परीक्षा के शुल्क और पुस्तकों की व्यवस्था की थी उसने। खेती-बारी का सारा काम अपने जिम्मे लेकर उन्हें परीक्षा की तैयारी के लिए मुक्त कर दिया था...रोज सबरे ताजी रोटी बनाकर उन्हें खिला देती और खुद बासी खाना खाकर लड़की को लेकर खेत पर चली जाती थी। रात को सोते समय पूछती, ''अभी कितनी किताब और पढ़ना बाकी है, साहब वाली नौकरी पाने के लिए।''[1]

हिन्दी विभाग : हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद, मो. 8376090824,
Email :- pramod26487@gmail.com

पत्नी के त्याग, समर्पण, तपस्या और आस्था का ही परिणाम था कि एक गरीब परिवार का शादीशुदा बेरोजगार युवक देश की सबसे प्रतिष्ठित माने जाने वाली सरकारी सेवा यानी भारतीय प्रशासनिक सेवा में पहले प्रयास में ही चयनित हो जाता है। कितना मार्मिक वर्णन कहानीकार की कलम ने किया है, ''घर आकर एकान्त में पत्नी को गले से लगा लिया था। वाणी अवरुद्ध हो गई थी। उसको पता लगा तो वह बड़ी देर तक निस्पन्द, रोती रही, बेआवाज। सिर्फ आँसू झरते रहे थे। पूछने पर बताया, खुशी के आँसू हैं ये। गाँव की औरतें ताना मारती थीं कि खुद ढोएगी गोबर और भर्तार को बनाएगी कप्तान, लेकिन अब कोई कुछ नहीं कहेगा, मेरी पत बच गई।''[2]

सर्विस ज्वाइन करने के बाद एक-डेढ़ साल तक उसके पति हर माह के द्वितीय शनिवार और रविवार को गाँव आते-जाते रहते थे। पिता, पत्नी, पुत्री, सबके लिए कपड़े-लत्ते तथा घर की अन्य छोटी-मोटी जरूरी चीजें लाते रहते थे, जो कभी पैसे की तंगी के कारण नहीं ला पाते थे। लेकिन धीरे-धीरे साहब की मानसिकता में बदलाव आने लगता है। उसका मन गाँव से टूटने लगता है। इस कड़वी सच्चाई को कहानीकार के ही शब्दों में समझें, ''वह महसूस करती थी कि उसके गँवारपने के कारण वे अक्सर खीझ उठते और कभी-कभी तो रात में कहते कि उठकर नहा लो और कपड़े बदलो, तब आकर सोओ। भूसे जैसी गन्ध आ रही है तुम्हारी शरीर से। उस समय वह कुछ न बोलती। चुपचाप आदेश का पालन करती।''[3]

लेकिन समय धीरे-धीरे बीत रहा था। परिवार में एक नए सदस्य के रूप में बेटे 'लालू' का भी आगमन हो गया, उसी साल इनके पिताजी का स्वर्गवास हो गया। क्रिया-कर्म करके वापस शहर गए तो मन गाँव से थोड़ा-थोड़ा उचटने लगा था। दो बच्चों को जन्म देने, अतिश्रम एवं कुपोषण के कारण पत्नी का स्वास्थ्य भी दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा था। शहर की आबोहवा, जीवन-शैली तथा साथी अधिकारियों के घर-परिवार का भौतिकवादी एवं दिखावटी वातावरण अधिकारी महोदय के मन में हीन भावना पैदा करने लगा था। जिन्दगी के प्रति धीरे-धीरे दृष्टिकोण बदलने लगा था। जहाँ पहले वह हर माह के द्वितीय शनिवार और रविवार को गाँव आते थे, अब कई-कई महीनों बाद आते थे। और घर आने पर जब पत्नी घरेलू समस्याएँ बताती थी तो खीज उठते थे, मानों ये किसी और की समस्याएँ हैं। वे शहर में अपने साथी अधिकारियों के बीच खुद को 'अनमैरिड' बताते थे। इसी समय इनकी जान-पहचान जिला न्यायाधीश की जवान बेटी 'ममता' से हो चुकी थी। और उसके प्रेम-पाश में फँसने के कारण पत्नी से जुड़ा रहा-सहा रागात्मक सम्बन्ध भी अपने अन्तिम पायदान पर चला गया।

आज बहुत सारे शादीशुदा लोग जो गाँवों से सम्बन्ध रखते हैं, जब वे पढ़ाई या नौकरी के लिए शहर में आते हैं तो उनमें यह प्रवृत्ति होती है कि वे अपने पुराने ग्रामीण सम्बन्धों को छुपाते फिरते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनको अनेक तरह के अनचाहे, अनसुलझे मानसिक और शारीरिक कष्टों से गुजरना पड़ता है। यहाँ हमें अनायास ही भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' की याद आ रही हे, हालाँकि उसका प्रसंग

इससे थोड़ा भिन्न है। आखिर सफलता क्यों हमें इतनी निर्मम बना देती है कि इसे हासिल कर लेने के बाद हमें अपना ही 'बेगाना' नजर आने लगता है? हम बड़े होकर इतने बड़े कैसे हो जाते हैं कि माँ-बाप और अपनों की उपस्थिति को अपनी जिन्दगी में हस्तक्षेप समझने लगते हैं, प्रगति में बाधक समझने लगते हैं? क्या भौतिकवादी उपलब्धियाँ और सफलताएँ ही हमारे लिए सब कुछ होती हैं जिसमें हमारे अपनों के प्रेम, त्याग, समर्पण, समर्थन और दुआओं का भी बहुत सारा अंश समाहित रहता है?

एक बार तीन-चार महीने बाद अधिकारी महोदय गाँव आए तो पत्नी ने टोका था, ''इस बार काफी दुबले हो गए हैं। लगता है, काफी काम रहता है, बहुत गुमसुम रहने लगे हैं, क्या सोचते रहते हैं?...इस बार मैं भी चलूँगी साथ में। अकेले तो आपकी देह गाल जाएगी।''[4] इतना सुनते ही अधिकारी महोदय चौंक जाते हैं और कहते हैं, ''लेकिन यहाँ की खेती-बारी, घर-द्वार कौन देखेगा? अब तो पिताजी भी नहीं रहे।''[5] इतना कहने के बाद वे इधर-उधर की बात कर अपनी पत्नी से कहते हैं कि चुपचाप सो जाओ। लेकिन वह सोती नहीं है। और अपने पति से अपनी माँ के मुँह से बचपन में सुनी गीत गाती है—''सौतनिया संग रास रचावत, मों संग रास भुलान, यह बतिया कोऊ कहत बटोही, त लगत करेजवा में बान, सँवरिया भुले हमें...''[6] गीत सुनकर साहब अन्दर तक हिल गए और उन्हें इस बात का डर दिल में बैठ गया है कि कहीं यह 'ममता' के बारे में जान तो न गई?

लेकिन इस बार 'साहब' गाँव से गए तो पाँच-छह महीने तक वापस जाने का मौका नहीं मिल पाया। इसी बीच जिला न्यायाधीश की बेटी 'ममता' से उनकी शादी हो गई। शादी के दूसरे या तीसरे महीने गाँव से पत्नी का पत्र आया कि कमला को चेचक निकल आई है, लालू भी बहुत बीमार है। मौका निकालकर चले आइएगा। लेकिन गाँव वे पत्र मिलने के दो हफ्ते बाद ही जा सके। साहब जब तक गाँव पहुँचे, तब तक दोनों बच्चे ठीक हो चुके थे। रात में पत्नी ने साहब का हाथ पकड़कर कहा, ''लगता है, आप मेरे हाथ से फिसलते जा रहे हैं और मैं आपको सँभाल नहीं पा रही हूँ।''[7] इस बात का साहब कोई जवाब नहीं दे पाते हैं। बस किसी तरह वहाँ से निकलना चाहते हैं। और अन्ततः निकल आए। वही उनका अन्तिम मिलन था।

यह अक्सर देखने में आता है कि लोग सफलता पाने के पश्चात् जब अपना गाँव छोड़ते हैं तो वहीं पर अपनी उस गँवई पत्नी को भी छोड़ जाते हैं, जिसको अग्नि की साक्षी मानकर सात फेरे लिये रहते हैं, तथा सुख-दुःख में साथ निभाने का वादा भी किए रहते हैं। सफलता मिलने के पश्चात् कहाँ चले जाते हैं ओ वादे, ओ रस्में, ओ कशमें, ओ वचन? शहर आकर बेझिझक शहराती लड़की से शादी कर लेते हैं। यह किसी नौकरशाह या राजनीतिज्ञ द्वारा ही नहीं किया जाता, बल्कि नामी-गिरामी साहित्यकारों, कलाकारों द्वारा भी पर्याप्त तौर पर किया जाता रहा है। ऐसी स्त्रियाँ परित्यक्ता का जीवन जीते हुए मृत्यु-पर्यन्त न केवल घर-परिवार में अपितु समाज में भी उपेक्षा झेलती रहती हैं, दर्द सहती रहती हैं।

लमही पत्रिका में सन्तोष कुमार चतुर्वेदी ने लिखा है, ''शिवपूर्ति की कहानियाँ पढ़ते हुए स्त्रियों के सन्दर्भ में मुझे हिन्दी का एक मुहावरा याद आ रहा है 'खरबूजा चाहे चाकू पर गिरे या खरबूजे पर चाकू गिरे दोनों हालत में कटना खरबूजे को ही है।''[8] आलोचक रविभूषण ने अपने एक लेख में यह तथ्य उद्घाटित किया है कि 'सिरी उपमा जोग' और 'भरतनाट्यम' जैसी कहानियों में शिवमूर्ति के निजी जीवन की झलकियाँ भी शामिल हैं। जाहिर-सी बात है कि शिवमूर्ति जैसे कहानीकार जब खुद अपनी कहानी में शिद्दत से शामिल हैं तो वह उम्दा तो होगी ही। लेखक के जीवन का जुड़ाव किसी भी रचना को जीवन्त बना देता है। इसी क्रम में इस कहानी में कई प्रसंग ऐसे आते हैं जिससे होकर गुजरते हुए हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।''[9]

कहानी फ्लैशबैक से शुरू हुई थी, ''किर्र-किर्र-किर्र घण्टी बजती है। एक आदमी पर्दा उठाकर कमरे से बाहर निकलता है। अर्दली बाहर प्रतीक्षारत लोगों में से एक आदमी को इशारा करता है। वह आदमी जल्दी-जल्दी अन्दर आता है...।''[10] विभा नायक ने 'संवेद' पत्रिका में लिखा है, ''शिवमूर्ति की खास बात है कि बेहद सहज ढंग में वे कहना शुरू करते हैं इसलिए जो भी कहते हैं वो गहरा असर करती है। यहाँ भी सब कुछ बेहद सहज किस्म का है। कम-से-कम देखने में सहज जरूर लगता है। कहानी की शुरुआत घण्टी की किर्र-किर्र से होती है। दरअसल, यह किर्र-किर्र केवल घण्टी की नहीं है, बल्कि सम्बन्धों में आई करकराहट है जो शुरू से आखिर तक कहानी में एक जबर्दस्त तड़प के रूप में व्याप्त रहती है। बड़े साहब यानी कलक्टर साहब से मिलने के लिए लोगों की एक लम्बी कतार इन्तजार में है। सहज है। इस कतार में एक बच्चा जिसकी उम्र करीब इस-ग्यारह साल है, भी इन्तजार में है। यहाँ तक भी ठीक है। धूल-धूसरित मुरझाया चेहरा और मैले-कुचैले कपड़े देहाती होने का पुख्ता कर रहे हैं। फिर भी शहराती किस्म के साहब से मिलने में कोई झिझक नहीं। बल्कि अर्दली से वह बार-बार जिद करता है कि वह साहब से अकेले मिलना चाहता है। यहाँ तक भी कोई दिक्कत नहीं। अर्दली है कि बच्चा समझकर उसे हर बार झिड़क देता है। पर बच्चा मानता नहीं है। लगातार एक ही रट कि साहब से अकेले मिलने दो। पर इतने बड़े साहब से मिलना भी तो आसान नहीं। तो अर्दली भी कैसे हामी भर दे। इतने में एक बार और घण्टी की किर्र-किर्र होती है और साहेब अर्दली को आदेश देते हैं कि जितने लोग हैं उन सबको एक साथ अन्दर भेज दो। इन्तजार कर रहे लोग एक साथ अन्दर चले जाते हैं। पर अर्दली के लाख कहने पर भी बच्चा अन्दर नहीं जाता और न ही अपने हाथ में ली हुई, आटे की लेई से चिपकी चिट्ठी तक ही अर्दली का हाथ पहुँचने देता है। उसकी गुहार यही है कि साहब से अकेले मिलना चाहता है।''[11]

अन्ततः लड़के पर साहब की नजर पड़ती है और पूछते हैं, ''हाँ, बोलो बेटे, कैसे?'' सवाल-पे-सवाल करते-करते जीप में बैठ जाते हैं और धीरे-धीरे जीप रेंगने लगती है। ''लड़का एक क्षण असमंजस में रहता है फिर जीप के बगल में दौड़ते हुए

जेब से एक चिट्ठी निकालकर साहब की गोद में फेंक देता है।...लेकिन चिट्ठी की गँवारू शक्ल उनकी उत्सुकता बढ़ा देती है। उसे आटे की लेई से चिपकाया गया है। चिट्ठी खोलकर वे पढ़ना शुरू करते हैं—''सरब सिरी उपमा जोग, खत लिखा लालू की माई की तरफ से, लालू के बप्पा की पाँव छूना पहुँचे...''[12] कहानी में तब एक मोड़ आता है जब कलेक्टर साहेब के माथे पर चिट्ठी पढ़कर पसीना चुहचुहा आता है। यहाँ कुछ चुभता-सा है कि आखिर पसीना क्यों आ गया साहेब को? फिर वही सवाल उठता है कि आखिर चिट्ठी में ऐसा क्या लिखा है कि साहेब के चेहरे की रंगत बदल गई।

असल कहानी तो यहीं से प्रारम्भ होती है ''शहरी सभ्यता और पद के नशे में चूर 'साहब' अन्दर से कितने लिजलिजे और घिनौने किस्म के इन्सान हैं इसका पता यहाँ चलता है। दूसरों की समस्याओं को दूर करने में मसरूफ कलक्टर साहेब खुद किसी के दुःख और तकलीफ का कारण हो सकते हैं—यह क्या कोई सोच भी सकता है? लोगों की सीमेण्ट, चीनी या लाइसेन्स की समस्याएँ तो दूर करना कोई बड़ी बात नहीं, पदासीन हैं। इतने बड़े साहब बन गए हैं तो क्या इतना भी नहीं करेंगे? पर सवाल है कि हृदय पर लगे घावों का कोई भी उपचार है इनके पास? यदि होता तो उस चिट्ठी को पढ़कर साहेब के माथे पर पसीना न आ गया होता। खैर यह पसीना उनके मनुष्य होने को तो साबित कर देता है पर उनकी आदमियत का प्रश्नचिह्न जरूर लगा देता है क्योंकि वो कनखियों से उस बच्चे को देखते जरूर हैं जो पीछे छूटते जाते अतीत की तरह उनकी जीप के पीछे भागा था और जैसे अतीत अक्सर वर्तमान में अनधिकृत प्रवेश कर जाता है, न चाहते हुए भी हृदय को हिलोर जाता है, अच्छे-खासे वर्तमान में लिपे-पुते चेहरे को चोर सिद्ध कर जाता है, कुछ इसी तरह से उस बच्चे का चेहरा और वो देहाती चिट्ठी उन पर असर कर गई और साहब की रंगत बदल गई।''[13]

दरअसल, ''पसीना इसी डर से आया है। सफल और सभ्य बनने की प्रक्रिया किसी के सामने उजागर न हो जाए। यदि उजागर हो गई तो अपना दोगला चरित्र लेकर कहाँ जाएँगे साहेब। आगे बढ़ चुका कदम पीछे कब लौटा है जो साहेब लौटते और मान लीजिए लौट भी आते तो आगे जो कर आए हैं उसका क्या? शायद इसीलिए अपने अतीत के लिए कोई विचार साहब के दिमाग को विचलित नहीं करता। साहब बनने की प्रक्रिया में वे अपनी भावनाओं और संवेदनाओं को पहले ही त्याग चुके हैं। उनका ओढ़ा हुआ शहराती चोला उन्हें इस बात के लिए कतई छूट नहीं देता कि वो अपने असली रूप में आएँ, कुछ देर के लिए ही सही।''[14]

फिर साहब चिट्ठी खोलकर पढ़ते हैं, ''आगे समाचार मालूम हो कि हम लोग यहाँ पर राजी-खुशी से हैं और आपकी राजी-खुशी भगवान से नेक मनाया करते हैं। आगे, लालू के बप्पा को मालूम हो कि...आपके चाचाची ने हम लोगों को सताना शुरू कर दिया है। किसी-न-किसी बहाने से हमको, लालू को और कभी-कभी कमला को भी मारते-पीटते रहते हैं।...वे चाहते हैं कि हम लोग गाँव छोड़कर भाग जाएँ तो सारी खेती-बारी, घर-दुवार पर कब्जा हो जाए। आज आठ दिन हुए, आपके चाचाजी हमें

बड़ी मारे। मेरा एक दाँत टूट गया। हाथ-पाँव सूज गए हैं। कहते है—गाँव छोड़कर भाग जाओ, नहीं तो महतारी-बेटे का मूँड़ काट लेंगे।''[15] कहानी में यहीं से यह रहस्य भी खुलता है कि दरअसल, वो बच्चा एक साहब से नहीं, बल्कि अपने पिता से मिलने के लिए अपनी बारी का इन्तजार कर रहा था, क्या विडम्बना है और उससे भी बड़ी विडम्बना यह कि उसका बाप उसे पहचानता तक नहीं, क्योंकि साहेब बनने के बाद उसने गाँव-देहात, अपनी देहाती पत्नी और अपने बच्चों को वैसे ही छोड़ दिया जैसे सुबह होने पर आँखें रात के देखे हुए सपने को छोड़ देती हैं और फिर जो कुछ छोड़ दिया है, वापस उसकी ओर लौटने की क्या तुक और क्या जरूरत?

आगे की बातें शिवमूर्ति के ही शब्दों में, ''चिट्ठी पढ़कर वे लम्बी साँस लेते हैं। उन्हें याद आता है कि लड़का पीछे बँगले पर छूट गया है। कहीं किसी को अपना परिचय दे दिया तो? लेकिन अब इतनी दूर आ गए हैं कि वापस लौटना उचित नहीं लग रहा है। फिर वापस चक्कर सबके सामने उससे बात भी तो नहीं की जा सकती है। उन्हें प्यास लग आई है।...उनके मस्तिष्क में दस साल पुराना गाँव उभर रहा है। गाँव, जहाँ उनका प्रिय साथी था...फिर उनके दिमाग में पत्नी के टूटे दाँतवाला चेहरा घूम गया। दीनता की मूर्ति, अतिपरिश्रम-कुपोषण और पति की निष्ठुरता से कृश, सूखा शरीर, हाथ-पाँव सूजे हुए, मार से।''[16] दिन-भर तरह-तरह की बातें सोचते-सोचते 'साहब' अपने बँगले पर आते हैं। फिर जीप के गेट के अन्दर प्रवेश करते ही साहब को चबूतरे पर एक लड़का औधा लेटा दिखाई देता है जिसका शरीर उसके ही अँगोछे से ढका है। फिर भी जीप आगे बढ़ जाती है। बँगले के अन्दर पहुँचते ही उनको चार वर्षीय बेटी महत्त्वपूर्ण सूचना देती है अपनी तर्जनी उठाकर, ''पापा, पापा, ओ बदमाश लड़का, बरामदे तक घुस आया था। मम्मी पूछती तो बोलता नहीं था। भगाती तो भागता नहीं था। मैंने अपनी मोटर फेंककर मारा उसका माथा कट गया। खून बहकर मुँह में जाने लगा तो थू-थू करता हुआ भागा। और पापा, वह जरूर बदमाश था। जरा भी नहीं रोया। बस, घूर रहा था। बाहर चपरासियों के लड़के मार रहे थे, लेकिन मम्मी ने मना करवा दिया।''[17]

फिर साहब और उनकी शहराती पत्नी के बीच सवाल-जवाब का दौर शुरू हो जाता है। पत्नी ममता कड़े तेवर अपनाकर पूछती है कि कहीं वह, ''उस चुड़ैल की औलाद तो नहीं, जिसे आप गाँव का राज-पाट दे आए हैं? ऐसा हुआ तो खबरदार जो उसे गेट के अन्दर भी लाए खून पी जाऊँगी।''[18] कितनी अजीब बात है, शहराती पत्नी के लिए गाँव की अपनी सौत—चुड़ैल और डायन सरीखी लगती है। उसके मन में कहीं भी यह अपराध-बोध नहीं होता कि उसने किसी महिला का हक छीना है। वह न केवल खुद को, अपितु अपने (साहेब) पति और बच्ची को उसकी छाया तक से दूर रखने का प्रयास करती है। ''स्त्रियों के प्रति क्या यह एक तरह की हिंसा नहीं है? बिल्कुल दूसरे तरह की हिंसा। जिसमें पुरुष-वर्ग केवल अपना स्वार्थ देखता है और उसे ही वरीयता देता है, इस क्रम में बिल्कुल करीबी रिश्तों को भी तिलांजलि देने से वह नहीं चूकता।''

शहराती पत्नी की जली-कटी बाते सुनकर अधिकारी महोदय चुपचाप अपने ड्राइंगरूम में जाकर सो जाते हैं और सबेरे उठकर साहब देखते हैं—''चबूतरे पर ''गाँव नहीं है।''[19] यानी लालू नहीं था। और इसी के साथ चैन की भी साँस लेते हैं। यहीं पर आकर कहानी खत्म हो जाती है। वाकई गाँव इतना संकुचित भी तो नहीं। तमाम उपेक्षाओं, झूठे आश्वासनों एवं दिलासों के बावजूद गाँव आज भी भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ बने हुए हैं। खेती-बारी की कमान हो, नैतिक मूल्यों की कमान हो, सांस्कृतिक विरासत की कमान हो या रिश्ते-नातों की कमान, गाँव उसे आज भी पूरी शिद्दत, लगन, ईमानदारी एवं जिम्मेदारी के साथ थामे हुए हैं। ●

**सन्दर्भ**


[1] शिवमूर्ति, *केशर-कस्तूरी (क.सं.),* पहला संस्करण : 2007, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 63
[2] वही, पृ. 64
[3] वही, पृ. 65
[4] वही, पृ. 65
[5] वही, पृ. 66
[6] वही, पृ. 66
[7] वही, पृ. 66
[8] ऋत्विक राय (सं.), *लमही,* अक्टूबर-दिसम्बर : 2012, श्रीमन्त शिवम् आर्ट्स, लखनऊ, पृ. 47-48
[9] वही, पृ. 47
[10] शिवमूर्ति, *केशर-कस्तूरी (क.सं.),* पहला सस्करण : 2007, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 60
[11] शिवमूर्ति, *केशर-कस्तूरो (क.सं.),* पहला संस्करण : 2007, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 100
[12] वही, पृ. 61
[13] किशन कालजयी (सं.), संवेद-73-75 : फरवरी-अप्रैल-2014, स्वामी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 100
[14] वही, पृ. 101
[15] शिवमूर्ति, *केशर-कस्तूरी (क.सं.),* पहला संस्करण : 2007, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 62
[16] वही, पृ. 63
[17] वही, पृ. 68
[18] वही, पृ. 68
[19] वही, पृ. 68

# उपन्यास साहित्य में उत्तर-आधुनिकता

रमेश चन्द सैनी*

''उत्तर-आधुनिकता वर्तमान युग की संस्कृति चिन्तन और उसके सौन्दर्य शास्त्र को चिह्नित करने वाला एक व्यापक 'पारिभाषिक' शब्द है। आधुनिक समय में सम्पूर्ण समाज तीव्र वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षिक विकास से प्रभावित हो रहा है। आज के नगरीय परिवेश में उक्त प्रभाव अपेक्षा से कहीं अधिक तथा स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहे हैं, जिससे प्राचीनता और नवीनता के बीच सन्तुलन स्थापित नहीं हो पा रहा है। जहाँ एक वर्ग यदि प्राचीन परम्पराओं का मोह नहीं त्याग कर पा रहा है तो दूसरा नवीनता की और तीव्र गति से आकर्षित है। जिससे नगरीय समाज में अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया चल रही है। ऐसी स्थिति में स्वस्थ समाज एवं व्यक्ति के विकास के लिए यह आवश्यक हो जाता है। नगरीय परिवेश में रहने वाले युवा-वर्ग की अपेक्षाओं एवं सामाजिक मूल्यों का अध्ययन किया जाए। उत्तर-आधुनिकता की प्रवृत्ति बहुत सरल नहीं है इसे एक सूत्र या समीकरण के रूप में बाँध पाना काफी कठिन है। इसके अपने नियम-कानून हैं, पक्ष-विपक्ष है आधुनिकता में पुनःसर्जन की पुकार थी जबकि उत्तर-आधुनिकता में विकेन्द्रीकरण अलग पहचान, अलग आवाज और विखण्डन (विरचना) का बोलबाला प्रमुख रूप से है।''[1]

उत्तर-आधुनिकतावाद बहुसंस्कृतिवाद या बहुलतावाद पर आधारित नया विमर्श है उत्तर-आधुनिकता बहुकेन्द्रीयता की संकल्पना को लेकर चलती है और यह बहुकेन्द्रीयता व्यक्ति की अपेक्षा समूहों की केन्द्रीयता है। उत्तर-आधुनिकता में समाज एक ओर विखण्डित और श्रेणीयुक्त बन जाता है तो दूसरी ओर सूचना निर्भर प्रबन्धन में नियुक्त हो जाता है और इस जगत में हर विखण्डित समूह अपने आस-पास फिर केन्द्र को बनाता जाता है। भारत में विविधता पूर्ण समाज विद्यमान है जहाँ पर किसी एक विमर्श को सम्बोधित करना सम्भव ही नहीं है। इन सबके बावजूद हमारा समाज अभी भी स्त्री, दलितों, आदिवासियों और अल्पसंख्यकों की अभिव्यक्तियों और उनकी

* शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान-324005,
Email :- rameshsaini11211@gmail.com, Mobile No. : 9001166242

सामूहिक अस्मिता के प्रति अत्यन्त अनुदार और असहिष्णु है जबकि उत्तर-आधुनिक समाज में इन समूहों की आवाज को सहज भाव से स्वीकार किया जाना अपेक्षित है। असल में उत्तर-आधुनिकतावाद एक ऐसा ग्लोबल खेल है। जिसमें हम सब शरीक हैं।

'रोलाबार्थ', देरिदां, मिशेल फूको, पाल डीमान आदि ने संस्कृति बोध के पुराने पैमानों को या पैराडाइम्स को बदल दिया है जहाँ एक ओर पश्चिमी देश उत्तर आधुनिक होते जा रहे हैं वहीं भारत ने अभी भी आधुनिकता को गले लगा रखा है।''[2]

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में जन्मी यह विचारधारा हिन्दी में सन् 1980 के आस-पास लक्षित होने लगी, स्वातन्त्र्योत्तर काल में आधुनिकता अधिक सघनता से महसूस की जाने लगी। आज उत्तर-आधुनिकता भी समकालीन उपन्यासों में देखी जा सकती है।''[3]

यद्यपि उपन्यासों का उद्‌भव भारतेन्दु काल से हुआ। प्रेमचन्द के 'गोदान' (1935-36) उपन्यास में आधुनिकता बोध के दर्शन होते है। वहीं 1974 में कृष्ण बलदेव वैद कृत 'विमल उर्फ जाए तो जाए कहाँ' में वर्तमान सन्दर्भ की उत्तर आधुनिकता चिह्नित होती है। इसकी पुष्टि करते हुए—डॉ. हेतु भारद्वाज लिखते है—''कृष्ण बलदेव वैद ''विमल उर्फ जाए तो जाए कहाँ'' में वर्तमान सन्दर्भ में उत्तर-आधुनिकतावादी उपन्यासकार है। इस उपन्यास में आधुनिकतावादी मूल्यों का नकार है। इस उपन्यास में 'यौन' को एक नए रूप में चित्रित किया गया है। जो कि उत्तर-आधुकितावादी लक्षण है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों में उत्तर-आधुनिकतावादी तत्त्वों से अभिशप्त उपन्यासों में—

'अपनी सलीबे' नमिता सिंह द्वारा रचित है, इसकी उपलब्धि यह है कि इस उपन्यास ने स्त्री को साहित्य के केन्द्र में स्थापित करने का प्रयास किया है। ''विचार का केन्द्रवाद ध्वस्त हो गया है, और विकेन्द्रीयता की प्रवृत्ति उभर रही है। दलित, दमित, नारी, अल्पसंख्यक जो कभी हाशिए पर थे, केन्द्र में आ रहे हैं। स्त्री का साहित्य के केन्द्र में आना उतर-आधुनिक विचार है, इस उपन्यास में नारी की समाज में दूसरे दर्जे की हैसियत पर चिन्ता व्यक्त हुई है। स्त्री के प्रगति में समाज की रूढ़ियाँ बाधक हैं। यह जिन्दगी तो जैसे अँधेरे घने जंगलों में निकलने वाली पगडण्डी का नाम है कब किधर से कोई बाघ या भेड़िया हमला कर दे कुछ पता नहीं। नायिका नीलिमा आई. ए.एस. ईशू से प्रेम करती है परन्तु जब नीलिमा को पता चलता है कि ईशू 'चमार' जाति से है तो उसका प्रेम समाप्त हो जाता है। यह उत्तर-आधुनिकता का वर्तमान सन्दर्भ है कि व्यक्ति के बजाय पद, पावर और पैसा महत्त्वपूर्ण है। पात्र ईशू के बहाने जाति पर बहस की गई है। ''भारतीय यथार्थ की एक निर्णायक सांस्कृतिक श्रेणी जाति है, इसमें कोई शक नहीं, बुर्जुवा मानवतावादी ने इस श्रेणी को दबाए रखा, जबकि उत्तर-आधुनिक स्थितियों में यह श्रेणी फिर अनुभव के क्षेत्र में निर्णायक भूमिका अदा करने लगी है।

'मछली मरी हुई' राजकमल चौधरी का एक बहुत चर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास का कोई विषय नहीं है केवल विषय का प्रस्ताव है। उपन्यास का प्रमुख पात्र है निर्मल पद्मावत जिसके इर्द-गिर्द सारी कथा घूमती है लेकिन फिर भी वह कथा के केन्द्र में नहीं है। नव-पूँजीवाद बनाम समाजवाद, औद्योगिकरण बनाम ग्राम, व्यक्तिवाद बनाम व्यक्ति आधुनिकता बनाम उत्तर-आधुनिकता यही विखण्डन है, इस उपन्यास का जो पाठकों के ध्यानाकर्षण का केन्द्र है। पढ़ते-पढ़ते सारी कथा 'पाठक' के मस्तिष्क के आँगन में बिखर जाती है। पर इस बिखराव में कहीं उलझाव नहीं होता केवल विषय का प्रस्ताव होता है। उपन्यास का कथा-स्थान कलकत्ता शहर है। इसमें द्वितीय विश्व युद्ध के तुरन्त बाद के कलकत्ता शहर के उद्योग-जगत का प्रामाणिक और सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। उपन्यास अपने उत्तर-आधुनिक सन्दर्भ में आधुनिकता के प्रमुख दर्शनों अस्तित्त्ववाद, समाजवाद, विकासवाद, पर प्रश्नचिह्न लगाता इन्हीं दर्शनों के गर्भ से पैदा होती उत्तर-आधुनिकता परिस्थितियों में साँस लेता है। इस उपन्यास के अधिकतर पात्र मानसिक विकृतियों के शिकार हैं। पात्रों के मध्य सबसे ज्यादा विवाद का विषय रहा—समलैंगिकता। यह उपन्यास देह-जनित दुर्बलताओं विशेषकर स्त्री समलैंगिकता और यौनाचार में डूबी हुई स्त्रियों कल्याणी, शीरी और सन्ध्या पात्रों की रति-विषयक लत की स्थिति बयान करता है। पात्र अपने-आप में एक उत्तर-आधुनिक स्थिति के परिचायक है।''[6]

'डूब' वीरेन्द्र जैन का उत्तर-आधुनिकतावादी विशेषताओं से युक्त उपन्यास है। इसमें पात्र 'माते' के माध्यम से कथा कही गई है। विकास योजनाओं के नाम पर विनाश को अभिशप्त ग्रामीणों की व्यथा इसमें चित्रित है। माते विकास विरोधी चरित्र है। यह विकास में विश्वास नहीं रखता है। वह कहता है—''उस विकास से क्या फायदा जो मनुष्यों को उखाड़ दे, बेघर-बार कर दे, उन्हें गलत जगह रोप दे, उनकी सहजात इच्छाओं को रौंद दे?'' इस आधुनिकतावादी विकासवादी युग में यह ऐसा पात्र सामने आता है जो हिलने को तैयार नहीं है। उसके दाँत में सुपारी शुरू में फँस जाती है, वह आखिर तक माते की तरह दृढ़ रहती है। माते कहता है—''दाँतन में जा सुपारी तो मोती साव की नाई मो से चैंट गई है।''[7] इसमें एक भूमिपुत्र विकास की अवधारणाओं पर प्रश्नचिह्न लगाता है। यह विकास जड़ों से काटने की साजिश में लगा है। पूँजीवादी व्यवस्था गाँवों को लील जाने को उद्यत है। शहरीकरण, विकास को चुनौती देकर इस उपन्यास में मार्क्सवाद जैसे महाख्यान का नकार किया है। ''उत्तर-आधुनिकतावाद घोषित तौर पर कहता है कि साहित्य में महाख्यान का युग समाप्त हो गया है और अब कोई न तो सर्वमान्य आलोचना सिद्धान्त है, न हो सकता है।''[8]

''कुरू-कुरू स्वाहा'' में मनोहर श्याम जोशी ने उत्तर-आधुनिक गद्य प्रस्तुत किया है। आधुनिक युगीन अस्तित्ववाद का इसमें अन्त है—''बात यही है कि एक वह

होता है, एक वह होती है और जो कुछ होता है, वह कुछ भी नहीं होता क्योंकि वह उनके दो होने से होता है और सच्ची-मुच्ची वे दो थोड़ी ही होती है। इसमें मनोहर श्याम जोशी के तीन चेहरे हैं। ये तीनों जब चाहे गड्डमड्ड करते हैं। कहानी का कोई भी पात्र स्थिर चरित्र नहीं रहता। यह मेटा नैरेटिव है। इस उपन्यास की नायिका पहुँचेली सजग, चेतनाशील नारी है। उसे शक्ति के मिथक से जोड़कर नारी-अस्मिता की बात कही है। पुरुष प्रधान समाज एवं संस्कृति पर चोट करते हुए वह कहती है—''तुम्हारे सपने पुल्लिंग मात्र हैं और मेरे दुःख स्त्रीलिंग मात्र? प्रार्थना करो कि यह तुम्हारा यह पौरुष पिटा हुआ फिकरा न साबित हो।''[9] पहुँचेली की व्याख्या थ्योरियों से नहीं, उत्तर-आधुनिकतावादी लांका से हो सकती है। पहुँचेली हर बार पाठक की पकड़ से फिसल जाती है कि पाठक उसे टेक्स्ट में फिक्स नहीं कर पाता। इस उपन्यास का शिल्प, संरचना और भाषा भी उत्तर-आधुनिक पेरोडी-पेष्टीच, अन्तर्पाठीयता, अर्थ की अनिश्चितता यहाँ विद्यमान है।

'हरिया हरक्यूलीज' की हैरानी' मनोहर श्याम जोशी द्वारा रचित है। इसमें गूमालिंग के जादुई बिम्ब द्वारा न्यू फ्रायडवाद के सीजोफ्रेनिक चित्त को उभारा गया है। पूरी कथा परम्परावादी पाठक के लिए एक शौचालय दर्शन है पर यही उत्तर-आधुनिकता का 'टेक्स्ट' है। उत्तर-आधुनिकता के युग में सत्य की प्रतिनिधिकता संकटपूर्ण हो गई है। सत्य और झूठ आपस में ऐसे मिल गए हैं कि वास्तविकता जानना मुश्किल हो गया है। यही इस उपन्यास में है—''संशयात्मा भी तीन गुटों में बँट गए थे, एक डॉक्टर नीलाम्बर और पत्रधारी का था...दूसरा गुट, जिसका झण्डा हेमुली बोज्यू मरते दम तक उठाए रही...संशयात्मा गुट के तीसरे धड़े ने, जिसकी नेता विदुषी राजनीतिक कार्यकर्ती डॉक्टर कौमुदी त्रिपाठी थी...। इस उपन्यास में बौद्रिआ की छलना पैदा हुई है, जिसने कथा के भोलेपन के समाप्त कर उसे 'पाठ' में बदल दिया।''[9]

इन उपन्यासों के अलावा विनोद कुमार शुक्ल के 'खिलेगा तो देखेंगे', मैत्रेयी पुष्पा का 'इदन्नमम', दूधनाथ सिंह का 'नमो अन्धकार', भीमसेन त्यागी के 'सुरंग', जयप्रकाश कर्दम के 'छप्पर', रामदरश मिश्र के 'बीस बरस', मिथलेश्वर के 'यह अन्त नहीं' एवं वीरेन्द्र सक्सेना के 'खराब मौसम के बावजूद' आदि में भी उत्तर-आधुनिक युग की आहट सुनाई देती है। 'खिलेगा तो देखेंगे में एक खुला अन्त या निष्कर्षहीनता प्रकट हुई है। अन्तर्पाठीयता सम्भव होती है। 'इदन्नमम' में कई केन्द्र टूटे हैं। स्त्री, जाति आदि कई नए केन्द्र बने हैं। यही स्त्री-अस्मिता 'सुरंग' में भी वर्णित है। 'छप्पर' और 'बीस बरस' में दलित और स्त्री केन्द्र में आए हैं। 'खराब मौसम के बावजूद' में आधुकितावादी मूल्यों को नकारा गया है। इसमें विवाह संस्था पर ही प्रश्नचिह्न लगाया है। विवाह के कारण प्रेम और सेक्स का समुचित समन्वय नहीं हो सकता।

निष्कर्ष— समकालीन युग में उपन्यासों में एक नवीन जीवन-दृष्टि मिलती है। इनकी भाषा नए सन्दर्भों वाली है। आधुनिकतावादी मूल्य चेतना इनमें है पर कुछ

उपन्यासों में नवीन बोध प्रकट होने लगा है। इनमें न कुछ अपूर्व है न ही अलौकिक, न कुछ पावन है, न कुछ विलक्षण, न ही कुछ दार्शनिक है न कुछ आध्यात्मिक। ये उपन्यास कोई समाधान न प्रस्तुत कर खुले अन्त के साथ रह जाते हैं। इसका कारण है कि आज के समय में सभी समस्याओं का हल आदर्शी और नैतिकता से सम्भव नहीं है। आधुनिकता के मूल्य और आदर्श आज दरक गए हैं, उनकी व्यर्थता साबित हो रही है। इसलिए आज लेखन 'सृजन' नहीं, 'टेक्स्ट' है। इस टेक्स्ट में शाश्वत, पावन, स्थायी, कल्याणकारी, आध्यात्मिकता जैसे सन्दर्भ मृत हैं। साहित्य ने अब उस सृजनात्मकता की ओर कदम बढ़ा दिया है, जिसे उत्तर-आधुनिकता कहा जाता है। समकालीन उपन्यास वर्तमान समय और समाज को उद्घाटित करते हैं। इन उपन्यासों को पुरानी समीक्षाओं के आधार पर विश्लेषित नहीं किया जा सकता। उत्तर-आधुनिकता के आधार पर ही नए उपन्यासों को समझकर वर्तमान समय और समाज को जाना जा सकता है। ●

## सन्दर्भ


1. डॉ. हेतु भारद्वाज : हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास पंचशील प्रकाशन जयपुर, पृ.179
2. सुधीश पचौरी : उत्तर-यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ. 126
3. सुधीश पचौरी : उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ.96
4. वीरेन्द्र जैन : डूब, वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ. 95-96
5. राजकमल चौधरी-मछली मरी हुई, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पृ. 12
6. वही, पृ. 170-71
7. मनोहर श्याम जोशी—कुरू-कुरू स्वाहा, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पृ.126-27
8. वही, पृ. 64.
9. मनोहर श्याम जोशी-हरिया हरक्यूलीज की हैरानी, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पृ.113-115
10. नमिता सिंह 'अपनी सलीबे, वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ.32-33
11. डॉ. गोपीराम शर्मा आलेख, अपनी माटी अंक-17, पृ. 1-3
12. कृष्णदत्त पालीवाल—उत्तर-आधुनिकतावाद और दलित-साहित्य वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ. 23-24

# समकालीन कविता पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव

डॉ. अदिति सैकिया

हमारे देश की मिट्टी में महापुरुषों को पैदा करने की असीम शक्ति है। इन्हीं महापुरुषों में स्वामी विवेकानन्द जी का नाम गर्व सहित लिया जाता है। 1863 ई. में कलकत्ता में जन्मे विवेकानन्द जी विलक्षण प्रतिभा के स्वामी, साधु-सन्तों का सम्मान और कुशाग्र बुद्धि जैसे गुणों से विभूषित थे। वेदान्त के प्रचारक स्वामी जी की वाणी में जादू तथा व्यक्तित्त्व में एक आकर्षण था। मात्र 39 वर्ष की अल्पायु में यद्यपि उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन आज भी वे अपने अनोखे व्यक्तित्त्व और बेमिसाल प्रभाव के कारण जन-जन के मन में आदरपूर्वक बसा हुआ है। भारतीय संस्कृति के अग्रदूत विवेकानन्द जी एक ओजस्वी वक्ता एवं कर्मठ समाज-सुधारक थे। समाज-सुधार के क्षेत्र में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने देश में जिस सांस्कृतिक एवं राजनैतिक चेतना का संचार किया है, वह सराहनीय है। फ्रांस के नोबल पुरस्कार विजेता साहित्यकार रोमा रोलाँ को कविगुरु रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने एक पत्र में लिखा है—'यदि आप भारत को समझना चाहते हैं, तो विवेकानन्द का अध्ययन कीजिए। उनमें सब कुछ सकारात्मक है, नकारात्मक कुछ भी नहीं है' (नवभारत के निर्माण में स्वामी जी की भूमिका-डॉ. केदारनाथ लाभ-स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान-पृ. 428)

19वीं शताब्दी में भारत की पावन भूमि में जन्म लेने वाले स्वामी विवेकानन्द जी विलक्षण प्रतिभा के व्यक्ति थे। उनका चिन्तन अद्वितीय था। उनकी वाणी में गरिमा है, प्रौढ़ता है। उनका विचार-प्रवाह देश की साहित्य को नवीन दिशाएँ प्रदान करता चला आ रहा है। उन्होंने वाणी के तप पर विशेष बल दिया। शिष्टता, नम्रता, उदारता, वाणी की मुदृता जैसे सद्गुणों से वे युक्त होते थे। स्वामीजी वेदान्त के विख्यात एवं प्रतिभाशाली आध्यात्मिक गुरु थे। अतः समाज में उनको सम्मान प्राप्त

* एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मनोहारी देवी कनई महिला महाविद्यालय, डिब्रुगढ़, (असम)

होना स्वाभाविक बात थी। स्वामी विवेकानन्द जी ने अमेरिका के शिकागो में सन् 1893 ई. में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में भारत का मस्तक ऊँचा किया। उनका मत था कि प्रत्येक धर्म को अपनी स्वतन्त्रता और विशेषता को बनाए रखकर दूसरे धर्मों का भाव ग्रहण करते हुए उन्नत होना होगा। विश्व-भर से आए धर्म-प्रतिनिधियों को बताया—''मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद पैदा करना धर्म का काम नहीं है। जो धर्म मनुष्यों में टकराव पैदा करता है। वह कुछ सिरफिरे लोगों का निजी विचार अथवा मत हो सकता है, उसे धर्म की संज्ञा देना मनुष्य के धार्मिक विवेक का अपमान करना है, धर्म द्वन्द्व से परे है, धर्म का आधार है प्रेम, भाईचारा, सहानुभूति, दया, ममता, आत्मीयता तथा सह-अस्तित्त्व की भावना।'' दर्शन में उनकी विशेष रुचि थी। पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन करते-करते विवेकानन्द जी का मस्तिक दार्शनिक द्वन्द्व से भर गया था। डेकार्ट का अहंवाद ह्यूम और बेन की नास्तिकता, डार्विन का विकासवाद, स्पेन्सर का अज्ञेयवाद सबने विवेकानन्द जी के मस्तिक को मथ डाला था। दर्शन और विचारों के विभिन्न स्रोतों से तथ्यों का संकलन कर नरेन्द्र अपने व्यक्तित्त्व का निर्माण कर रहे थे। उन्होंने पाश्चात्य दर्शन से तर्क, ब्रह्म समाज से एकेश्वरवादी निराकार भावना, गौतम बुद्ध से विवेक, महावीर से करुणा तथा दक्षिणेश्वर के महामानव श्री रामकृष्ण परमहंस से हर हृदय को आनन्द से आप्लावित करने वाली सरज भावुकता ली थी। उन्होंने शून्य को ब्रह्म सिद्ध किया और भारतीय धर्म दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त की श्रेष्ठता का डंका बजाया। उनकी वाणी में संयम, ओज एवं मृदुता थी। उन्होंने जनसाधारण को उद्घोषित करते हुए कहा—''उठो, जागो और तब तक नहीं रुको, जब तक लक्ष्य ना प्राप्त हो जाए।'' वाणी की मृदुता के ही बल पर इन्होंने सम्मान प्राप्त किया। रोमा-रोला ने उन्हें 'मंच-महारथी' का सम्मान देकर आदर प्रकट किया। स्वामी विवेकानन्द जी ने न केवल भारतभूमि से ही सम्मान पाया अपितु, विश्व के कोने-कोने में उनकी ख्याति है और इनके द्वारा बताए गए मार्गों का लोगों ने अनुसरण किया है।

'विवेकानन्द संचयनी' अध्ययन करने के बाद उनके सन्देशों का बोध होता है। उनके सभी आख्यानों के मूल में स्वावलम्बी तथा समुन्नत शब्द का निर्माण, राष्ट्रप्रेम, देशभक्ति, नारी-शिक्षा, भारतीय संस्कृति की महत्ता तथा अतीत का गौरव-गान आदि भावनाएँ प्रमुख रहीं। विवेकानन्द जी ने धर्म को अन्ध की दृष्टि से नहीं वरन् विश्व मानवता के विकास की दृष्टि से देखा। अपने को दीन-हीन और निकृष्ट समझने वाले पठित मध्य वर्ग को विवेकानन्द जी ने गर्व करने के लिए वेदान्त का दर्शन दिया।

महान व्यक्तित्व के अधिकारी स्वामी विवेकानन्द जी प्रेरणा के स्रोत हैं। उनकी वाणियों का प्रभाव हिन्दी कविता मानस पर पड़ा। उनके सन्देशों से केवल हिन्दी कवि ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व भी प्रेरणा लेता है।

विवेकानन्द जी द्वारा दी गई सम्पूर्ण शिक्षाएँ उनकी कृतियों में निहित है। स्वदेश प्रेम का भाव आपकी वाणी, उनका चिन्तन प्रबल एवं विकासवादी था। उन्होंने देश-सेवा तथा देशवासियों के उत्थान को ही अपना जीवन लक्ष्य बनाया। विवेकानन्द जी का कहना है—''भले ही मुझे बार-बार जन्म लेना पड़े और जन्म-मरण की अनेक यातनाओं से गुजरना पड़े लेकिन मैं चाहूँगा कि मैं उसे एकमात्र ईश्वर की सेवा कर सकूँ, जो असंख्य आत्माओं का ही विस्तार है। वह और मेरी भावना से सभी जातियों, वर्गों, धर्मों के निर्धनों में बसता है, उनकी सेवा ही देश अभीष्ट है।''

यह सत्य है कि कुछ हिन्दी कवियों के काव्य पर विवेकानन्द जी के प्रभाव को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। विवेकानन्द जी अपनी निष्ठा, देशप्रेम तथा उदारता के लिए प्रसिद्ध थे। उनके विचार स्वदेश प्रेम की भावना से प्रेरित थे। भारत में जनजागरण का शंखनाद करते हुए उन्होंने लिखा है—''खड़े हो जाओ, सुदृढ़ बनो, शक्तिवान बनो, सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर उठाओ और समझ लो कि अपने भविष्य के निर्माता तुम स्वयं हो। अपने होंठों को बन्द रखकर अन्तःकरण को खुला रखते हुए भारत के पुनरुत्थान कार्यों में पूरे परिश्रम से जुट जाओ। तुम्हारे कन्धों पर ही भारत और इसका 'भविष्य निर्भर है।'

हमारे देश के कवियों, लेखकों, ऋषियों एवं मनीषियों में देश के प्रति भक्ति की भावना प्रबल थी। इस दिशा में भला भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम कैसे भुलाया जा सकता है, जिन्होंने अपनी कृतियों के माध्यम से न केवल विदेशी हुकूमत का पर्दाफाश किया अपितु अँग्रेजी शासन का घोर विरोध किया। चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नील देव, सत्य हरिश्चन्द्र आदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के कृतियों ने अँग्रेजी कुठाराघात से बचाया है। भारत में भिन्नता पर उन्होंने प्रकाश डाला है—

*'भारत में सब भिन्न अति, ताहि सो उत्पात।*
*विविध हुए मतहूँ विविध, भाषा विविध लखात।*
*(भारत दुर्दशा—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'।)*

राष्ट्रीयता की रक्षा करने में उन्होंने महान योगदान दिया। अँग्रेजों के शासन काल में भारतीय संस्कृति के साथ खिलवाड़ किया जा रहा था। ऐसे वातावरण में जब युग प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अवतरित हुए तो उन्होंने सर्वप्रथम समाज और देश की दशा पर विचार किया। साथ ही उन्होंने अपने साहित्यिक रचनाओं, नाटकों, निबन्धों और कविताओं के माध्यम से देश की जनता का ध्यान, राष्ट्रीय गौरवगरिमा और जातीय महत्ता की ओर खींचा। देश की जनता में उन्होंने अपने राष्ट्र के प्रति, अपनी भाषा हिन्दी के प्रति जागृति पैदा करने का अथक प्रयास किया।

विवेकानन्द जी का हिन्दी कवियों पर पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। विवेकानन्द जी की देशभक्ति से प्रभावित होकर राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त जी ने अपनी कृतियों

के माध्यम से देशप्रेम का भाव झलकाया है। उनकी रचनाओं में राष्ट्रभक्ति का भाव प्रबल होने के ही कारण आपको राष्ट्रकवि का सम्मान प्राप्त हुआ।

*अपने युग को हीन समझना आत्महीनता होगी,*
*सजग रहो, इससे दुर्बलता और हीनता होगी।*
*जिस युग में हम युग वही तो अपने लिए बड़ा है*
*अहा! हमारे आगे कितना कर्मक्षेत्र पड़ा है। (द्वापर...मैथिली शरण गुप्त)*

गुप्त जी सच्चे अर्थों में राष्ट्रकवि थे। 'भारती-भारती' में कवि की यह भावना दृष्टिगोचर होती है। राष्ट्रीय गौरव की अनुभूति, जन-जन में राष्ट्रीय भावना का संचार और राष्ट्रीय आन्दोलनों के आदर्शों की प्रतिष्ठा का पावन उद्देश्य लेकर इन्होंने अपने काव्य की रचना की। निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए उनकी राष्ट्र के प्रति प्रेम–

*'जिसको न निज गौरव तथा निज देश पर अभिमान है।*
*वह न नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है।'*
*(भारत भारती, मैथिलीशरण गुप्त)*

युगनायक निराला भी विवेकानन्द जी से प्रभावित हैं। निराला जी राष्ट्रप्रेमी हैं। दो महायुद्धों के बीच जितनी रचनाएँ की हैं, उनमें राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव अधिक मिलता है। डॉ. रामरतन भटनागर ने 'सामाजिक जीवन और साहित्य' में यह उल्लेख किया है कि..."निराला का काव्य नवोदित राष्ट्रीय चेतना और नव्य वेदान्त से सम्पृक्त लोकसेवी मानववादी आत्मास्फूर्ति का भण्डार है। वह गाँधी युग की भावात्मक अभिव्यक्ति है।" (सामाजिक जीवन और साहित्य–डॉ. रामरतन भटनागर)

'जागो फिर एक बार', यमुना के प्रति, तुलसीदास, महाराज शिवाजी का पत्र आदि निराला की काव्य कृतियों में राष्ट्रीय चेतना का शंखनाद है। राष्ट्रीय गौरव, अतीत के प्रति मोह तथा पुरातन परम्पराओं के प्रति आस्था का उदात्त स्वर इन रचनाओं में मुखरित हुआ है। 'छत्रपति शिवासी का पत्र' शीर्षक कविता में देशभक्ति का स्वर मुखर है। विदेशी शासकों के विरुद्ध मोर्चा जमाने की प्रेरणा देते हुए शिवाजी कहते हैं–

*'शत्रुओं के खून से*
*धो सके यदि एक तुम माँ का दाग,*
*कितना अनुराग देशवासियों का पाओगे*
*निर्झर हो जाओगे,*
*अमर कहलाओगे। (निराला-अपरा)*

विवेकानन्द जी देश के युवाओं की शक्ति को देश निर्माण में लगाना चाहते थे। उन्होंने देश की युवाशक्ति को, लोहे की मांसपेशियाँ फौलाद की नसें और भीमकाय इच्छाशक्ति, जिसको कोई रोक न सके–के रूप में विकास करने का आह्वान किया। उन्होंने युवाओं को और अधिक उद्‌बोधित करते हुए कहा–"देश को योद्धाओं की

आवश्यकता है। योद्धा बनो! चट्टान की भाँति डट जाओ। हिन्दुस्तान को चाहिए कि एक विद्युतोत्पन्न ज्वाला, जो राष्ट्र की नसों में नवचेतना फूँक दे!'' विवेकानन्द जी के सन्देशों और विचारधाराओं ने निराला को बहुत गहरे प्रभावित किया। कभी निराला जी भारतवासियों को जागरण का सन्देश देते हुए कहते हैं–

*'जाओ फिर एक बार,*
*प्यारे जगाते हुए होरस्वब तारे तुम्हें*
*अरुण पंख तरुण किरण*
*खड़ी बोलती है द्वार*
*जागो फिर एक बार।' (परिमल–निराला, पृ. 197)*

उनकी राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिक चिन्तन और विवेकानन्द के विचारों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उनकी गद्य रचनाओं में इस बात का स्पष्ट प्रभाव है। उनके उपन्यासों में संन्यासी पात्रों के प्रति विशेष आकर्षण, व्यापक चिन्तन तथा संकल्पना सभी मिलकर विवेकानन्द जी की विचारधारा को ही पारिपोषित करते हैं। 'चींटी की पकड़' उपन्यास विवेकानन्द जी को समर्पित किया है। 'भक्त और भगवान' तथा 'स्वामी शारदानन्द महाराज और ये कहानियों' में विवेकानन्द जी का दर्शन स्पष्ट है। इतना ही नहीं निराला जी भारतीय शूरवीरों को उद्‌बोधन देते हुए जगा रहे हैं–

*जागो फिर एक बार,*
*पशु नहीं वीर तुम, समर-शूर, क्रूर नहीं,*
*कालचक्र में हो दबे, आज तुम राजकुँवर*
*समर सरताज! (परिमल-निराला)*

इतना ही नहीं निराला ने 'चींटी की पकड़' उपन्यास विवेकानन्द जी को समर्पित किया है। 'भक्त और भगवान' में स्वामी विवेकानन्द जी का दर्शन स्पष्ट होता है।

हिन्दी कवि रामधारी सिंह दिनकर जी का देशप्रेम विवेकानन्द जी से प्रेरणा अवश्य ग्रहण करता है। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जी का कहना है कि 'विवेकानन्द वह सेतु है, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र है, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रनीति, राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब-के-सब समाहित होते हैं।' दिनकर जी ने अपनी ओजस्विनी भाषा में राष्ट्रीय भावनाओं ओतप्रोत काव्य की रचना की। उनकी राष्ट्रीय भावना में क्रान्ति के तत्त्व अनुस्यूत हैं।

*'स्वत्व माँगने से न मिले, संघात पाप हो जाए*
*बोलो धर्मराज, शोषित वे जिएँ या कि मिट जाएँ*
*न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिले तो लड़ के*
*तेजस्वी छीनते समर को जीत या कि खुद मर के।*

निःसन्देह कवि दिनकर के काव्य में स्वामी विवेकानन्द की-सी निर्भीकता और तेजस्विता तथा महात्मा गाँधी की कर्मठता विद्यमान है। उन्होंने अपने क्रान्तिकारी विचारों से देश की जनता को संघर्ष-पथ पर लाया।

हिन्दी कवि सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' जी के काव्य में भी विवेकानन्द जी का प्रभाव है। स्वयं अज्ञेय प्रभाव को बुरी चीज नहीं मानते हैं। उन्होंने प्रभाव से रचना-शक्ति की समृद्धता को बताया है। देशभक्ति तथा देशप्रेम में कुछ ऐसा जादू है कि लोग अपने-आप मस्त हो जाते हैं। अज्ञेय की कविता में देशप्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। उनकी व्यक्तिगत अभिज्ञता इत्यलम्, बन्दी स्वप्न, कविता में स्पष्ट रूप से वर्णित है। उनका यही मत है कि कारागार में रहने वाले क्रान्तिकारी का शरीर भले ही बन्द हो पर उसके प्राण मुक्त हैं। अतः देशभक्ति अज्ञेय के रोम-रोम में व्याप्त हुआ है। वैयक्तिकता पर महत्त्व देने के बावजूद समाज तथा देश के प्रति वे अपने दायित्व निबाहना चाहते हैं। अपने देश के लिए अगाध भक्ति में, अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति गौरव में, अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा में, देश के प्रति बलिदान देने में, देश की सामाजिक, आर्थिक दशा सुधारने के प्रयत्न में उनकी देशभक्ति की अनुभूति प्रस्फुटित होती है। अर्थात् उनके काव्य में देशवासियों को अपने देश तथा उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के निमत्त मर-मिटने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

नारी-समाज के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द जी की उक्तियाँ आज भी प्रासंगिक हैं। वे आमूल संस्कारक थे। उनकी वाणी में अद्‌भुत ओज था। उन्होंने स्त्री-शिक्षा को अधिक प्रोत्साहित किया। शायद इसलिए उनकी उक्तियाँ समाज-जीवन के लिए उपयुक्त हैं। भारतीय नारी-सम्बन्धी उनकी मौलिक विचारों का संग्रह 'Women of India' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है।

'भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं। स्वामीजी ने आधुनिक युग में नारी के केन्द्रीय भाव में माँ के रूप में बड़ी प्रशंसा की है। विवेकानन्द जी का प्रभाव निराला पर आद्यन्त बना रहा। निराला जी ने भी कहा है—''भारतीय नारी की वर्तमान जागृति मातृशक्ति की दुर्गा-मूर्ति, बहन की रणविजयिनी शक्ति इन प्रश्नों का पर्याप्त उत्तर देगी।''

अज्ञेय की कविता में नारी का एक तो भारतीय रूप है और दूसरा विदेशी प्रभाव युक्त रूप। अज्ञेय ने 'चिन्ता' में लिखा है—''वह पुरुष की ललकार नहीं सह पाती है, वह अपनी प्रखरता दिखाती है।'' (अज्ञेय-चिन्ता, पृष्ठ 138)

अतः स्पष्ट है कि नारी को स्वतन्त्र रूप से अपना व्यक्तिवादी स्वर गुंजित करने का मौका अज्ञेय की कविता में मिला है। मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी 'उर्मिला' काव्य में नारी के प्रति सम्मान की भावना को प्रकट किया है। उन्होंने—

*'अबला जीवन हाय तुम्हारी यहीं कहानी।*
*आँचल में है दूध और आँखों में पानी'—*
*कहकर नारी को सम्मानित किया है।*

स्वामी विवेकानन्द जी ने अपनी रचनाओं में नारी-शिक्षा तथा नारी-समानता पर अधिक बल दिया था। उनसे प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य के छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद जी ने भी 'कामायनी' में कुछ इस प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं–

*'तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।*
*समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।'*

*(कामायनी–जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ 58)*

कवि रामधारी सिंह दिनकर भी विवेकानन्द जी से प्रेरणा अवश्य ग्रहण करते हैं। उन्होंने समय-समय पर अपनी नारी-सम्बन्धी धारणाओं को व्यक्त किया है। 'रेणुका' में नारी-भावना का बीजारोपण हुआ था। दिनकर के अनुसार नारी की पूर्णता माँ बनने में ही है–

*नारी की पूर्णता को स्वप्न रूप करने में,*
*करते हैं साकार पुत्र ही, माता के सपने को।'*

*(रसवन्ती–दिनकर पृष्ठ 62)*

उनकी 'रसवन्ती' में भी नारी-सम्बन्धी दृष्टि परम्परावादिनी ही रहती है–'उसमें कवि को माँ की ममता, तरुणी का संकल्प और बहन का प्यार दिखलाई पड़ता है। नारी का यही त्रिकोणात्मक स्नेह है।'–

*माँ की ममता तरुणी का व्रत,*
*भगिनी कालेकर बनो प्यार (रसवन्ती–दिनकर, पृष्ठ 44)*

अतः विवेकानन्द जी की रचनाओं में उनकी मौलिक नारी-भावनाओं को जैसे विश्व के अन्य कवियों का समर्थन प्राप्त हुआ हो।

भारतीय धर्म-संस्कृति को विश्व-स्तर पर पहचान दिलाने वाले विवेकानन्द जी ने मानव समता स्थापित करने का संकल्प किया था। साथ ही उन्होंने विश्व मानव की वन्दना की और नवीन मानवतावादी जीवन-दर्शन का उद्‌भव और विकास किया। जिसकी अभिव्यक्ति हिन्दी साहित्य के कुछेक कवियों की रचना में हुई है।

हिन्दी कवि सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के काव्य में मानव समता का भाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। दलित-वर्ग के प्रति सहानुभूति अर्पित करते हुए मानवतावादी विचारों से प्रभावित अज्ञेय दलित-धरा के आँसू पोंछकर सर्वसुख की कामना करते हैं। 'मैं वहाँ हूँ' शीर्षक कविता में अज्ञेय जी अपने-आपको सेतु कहते हैं, जो मानव को मानव से मिलाता है–

*'जो हृदय से हृदय को*
*श्रम की शिक्षा से श्रम की शिक्षा को*
*कल्पना के पंख से*

*कल्पना के पंखों को*
*विवेक की किरण से विवेक की किरण को*
*अनुभव के स्तम्भ से अनुभव के स्तम्भ को मिलाता हूँ।*
*(इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये—अज्ञेय, पृष्ठ 20)*

कवि दिनकर की स्वतन्त्र विचारशक्ति भी मानव को मानव के रूप में देखना चाहती है। अर्थात् वे केवल मानवतावादी हैं। इस नाना विध संसार में मानवता से उच्च मूल्य अन्य कोई नहीं है—मानव से उच्च वस्तु, इस सृष्टि में नहीं है—

*'मनुज हूँ, सृष्टि का शृंगार हूँ मैं,*
*पुजारिन-धूलि से मुझ को उठा लो,*
*तुम्हारे देवता का हार हूँ मैं। (हुंकार-परिचय—दिनकरप, पृष्ठ 86)*

सभी मानव को मानव-रूप में स्वीकार करना साथ ही उसे प्रतिष्ठित पद प्रदान करना ही छायावादी कवियों का मुख्य उद्देश्य है। मानवीय महत्ता पर अधिक बल देते हुए सुमित्रानन्दन पन्त जी ने कहा—

*'सुन्दर है विहग-सुमन सुन्दर, मानव'*
*तुम सबसे सुन्दरतम।' (युगवाणी—पन्त, पृष्ठ 46)*

महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने भी अपने काव्य में इसी मानवतावादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति की है। 'विधवा' शीर्षक कविता में मानव-हृदय में मानवता की स्थापना हेतु, कवि निराला कहते हैं कि मानव समाज! क्या तुमने कभी किसी दुखिया के दुःख को कम करने का प्रयत्न किया है। इसके अलावा 'तोड़ती पत्थर' तथा 'भिक्षुक' जैसी कविताओं में निराला जी ने मानव में छिपे हुए देवता का दर्शन किया है; उदाहरणार्थ—

*'ठहरो अहो मेरे हृदय में है, अमृत, मैं सींच दूँगा,*
*अभिमन्यु जैसे हो सकोगे, तुम, (परिमल—निराला, पृष्ठ 115)*

इस सम्बन्ध में बच्चन सिंह जी का कहना है कि—'मानवतावाद का स्वर—निराला में सबसे अधिक मुखर हुआ। उन्होंने मनुष्य को अमृतपुत्र माना और समय-समय पर उसकी महानता का उद्घोष किया। मनुष्य की विषमता पर कशाघात करना उन्होंने अपना पहला कर्तव्य समझा—'मानव -मानव से नहीं भिन्न।' (मुकुटधर पाण्डेय—'शारदा पत्रिका' 1920 ई. में प्रकाशित, जबलपुर)

उपर्युक्त विश्लेषणोपरान्त, यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक भारत के क्रान्तिकारी विचारक स्वामी विवेकानन्द जी ने जो आत्मसम्मान और देशाभिमान जगाने का प्रयास उन्नीसवीं शताब्दी में किया था उसका गहरा प्रभाव हिन्दी भाषा के अनेक कवियों पर पड़ा। सम्पूर्ण विश्व में सम्मान प्राप्त करने वाले विवेकानन्द जी एक ऐसी शख्सियत थे जिन्होंने रुचिवादी परम्परा का घोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि दुनिया को

करुणा और दया की आवश्यकता है। उनकी प्रतिभा गुरुतर है। मानवता के पुजारी स्वामी विवेकानन्द जी की वाणी में भारतीय संस्कृति की गरिमा, भक्ति की तन्मयता तथा राष्ट्रप्रेम की पवित्रता की त्रिवेणी समान रूप में प्रवाहित हुई है। नारी-शिक्षा के सम्बन्ध में उनकी उक्तियाँ आज भी प्रासंगिक हैं। अतः उनके विचारों का प्रस्फुटन हिन्दी भाषा के प्रायः समकालीन हिन्दी कवियों के काव्य में देखने को मिलता है। ●

**सन्दर्भः**


1. रेणुका—दिनकर—चतुर्थ संस्करण 1960, उदयाचल प्रकाशन।
2. रसवन्ती—दिनकर—दशम संस्करण 1966, उदयाचल प्रकाशन।
3. उर्वशी—दिनकर—तृतीय संस्करण 1969, उदयाचल प्रकाशन।
4. दिनकर के काव्य में मानवतावादी प्रेम चेतना—डॉ. मधुबाला शिक्षार्थी—पहला संस्करण 1985, तक्षशिला प्रकाशन (दिल्ली)।
5. राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी काव्यकला—शेखर चन्द्र जैन—पहला संस्करण 1973, जयपुर पुस्तक सदन।
6. उर्वशी विचार और विश्लेषण—पहला संस्करण, सं. डॉ. वचनदेव कुमार, बिहार ग्रन्थ कुटीर।
7. कामायनी—जयशंकर प्रसाद भारती भण्डार, सं. 2018।
8. कवि निराला—नन्ददुलारे वाजपेयी—वाणी वितान प्रकाशन, 1965।
9. निराला ग्रन्थावली-भाग 1,2,3, सं. ओंकार शरद—प्रकाशन केन्द्र, सं. 2030।
10. पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण—दिनकर—द्वितीय संस्करण-1965, उदायचल प्रकाशन।
11. भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य-सदन, झाँसी संवत् 1969।
12. अज्ञेय का रचना संसार—गंगा प्रसाद विमल—सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली, पहला प्रकाशन 1997।
13. भारत दुर्दशा—भारतेन्दु हरिशचन्द्र—पहला संस्करण, 1884 ई.।
14. भारत जागरण—स्वामी विवेकानन्द—अनुवाद महेश्वर हजारीका—पहला संस्करण-2012-विवेकानन्द केन्द्र असमीया प्रकाशन विभाग, गुवाहाटी।
15. Complete Words-Vol. 8- Lectures and Discusses : Women of India–Ramkrishna Math.
16. Complete Words-Vol. 3- Lecture from Colombo to Almore. My plan of campaign–edition-May 1997- publisher-Advaita Ashram (Publication Department) 5 Delhi Entally Road, Calcutta.
17. What Religion is–In the words of Swami Vivekananda–Edited by Swami Vidyatmananda 1st edition-1998- Advait Ashram (Publication Department) 5 Delhi Entelly Road, Calcutta.
18. अज्ञेय : कृष्णदेव शर्मा रीगल बुक डिपो, दिल्ली, पहला प्रकाशन 1983।

# मानस का पुनर्पाठ

शोभाकान्त झा

'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः', अर्थात् रम्य वह है जो पल-पल परिवर्तित वेशों से, बाँकी झाँकी से, इन्द्रिय अतीन्द्रिय सम्मोहन से नयन-मन को बाँध लेता है, सम्मोहित कर लेता है, बार-बार पलटकर देखने-पढ़ने के लिए, छूने-चखने के लिए उसकाता है। कमोवेश इसी के मानिन्द 'मानस' जैसे रम्य काव्य पाठकों को बार-बार पढ़ने के लिए न्यौता देता है। जब कोई किसी को न्यौता देता है तो वह विशिष्ट आस्वाद के लिए होता है—भोज की तरह। अनुभव करके देखिए। आपने बचपन में रामचरितमानस को पढ़ा होगा, जवानी और बुढ़ौती में, दुःख में सुख में, धार्मिक और साहित्यिक-चेतना के कई-कई स्तरों से उसे पढ़ा होगा। हर पाठ में कुछ-न-कुछ खास जरूर मिला होगा। हर पाठक अपनी-अपनी रीझ-बूझ, प्रतिभा और पकड़ के मुताबिक 'मानस' से कुछ-न-कुछ पाता ही रहता है।

'मानस ही क्यों, आप विद्यापति, कबीर, सूर को पढ़िए, कालिदास, भवभूति को पढ़िए, बदलते समय, बोध और रुचि-सुरुचि के अनुसार आस्वाद में अन्तर मिलेगा। केवल जायका बदलने के लिए ही नहीं, काव्यगत मूल्यों व प्रतिमानों से देशकाल की सापेक्षता में रू-ब-रू होते रहने के लिए भी पुनर्पाठ जरूरी है। प्रासंगिकता की माँग भी रहती है। इसी बात का संकेत देते हुए मानो तुलसीदास कहते हैं कि सुचिन्तित शास्त्रों का भी बार-बार पाठ आवश्यक है। 'शास्त्र सुचिन्तित पुनि-पुनि लेखीय'।

यह पुनि-पुनि पेखन ही, पुनर्पाठ ही पाठालोचन है। ठीक है कि आधुनिक युग में पाल द मान ने री-रीडिंग सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है, किन्तु विचार कर देखें तो यह भारतीय काव्यशास्त्र के लिए कोई नया विचलन या सैद्धान्तिकी नहीं है। यह उनके लिए नया हो सकता है, जो पाश्चात्य को पढ़ते हैं, पर औदात्य से भरे पौर्वात्य को पढ़ना उचित नहीं समझते। आलोचक अपने लोचन या लुक से पाठ को बार-बार पढ़ता है तब उसकी आलोचना करता है। आलोचना, अर्थात् सम्यक् दृष्टि से पाठ के आर-पार रचनागत मूल्यों का अन्वेषण है—दर्शन है। पाठ का डिकोडीकरण है, सौन्दर्य

कुशालपुर, रायपुर-492001 (छत्तीसगढ़)

का अनावरण है। कई-कई स्तरों पर अर्थों का खुलना है। वेदव्यास जब अपने शिष्यों या विद्वानों को यह सलाह देते हैं कि इतिहास-पुराणों के माध्यम से वे वेदों का विस्तार करें, उन्हें खोलें, उनकी व्याख्या करें तो मानो उनके पुनर्पाठ के लिए ही संकेत देते हैं। वेदों के ज्ञान रहस्यमय हैं। ज्ञान होता ही रहस्यमय है। वह अनन्त का रूप जो है—'अनन्त पारं किल शब्दशास्त्रम्।' इस अनन्त का पार पाने या उसके पास पहुँचने के लिए बार-बार का पाठ एक प्रयास-भर है। श्रुति जब से संहिताबद्ध होकर मूर्तिमती हुई है तब से अद्यावधि उसका पाठ जारी है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, रामायण-महाभारत, इतिहास-पुराण सभी ग्रन्थों का सिलसिला पुनर्पाठ के ही परिपाक है। 'रामचरितमानस' तो नानापुराण-निगमागम का सम्मत है ही, उसके अन्यत तुलसी के पुनर्पाठ हैं।

यहाँ एक तथ्य उल्लेखनीय है कि जब पाठक पाठ की प्रक्रिया से गुजरता है तो उस दरम्यान वह अपने अनुभव, समझ-संस्कार, बहुतों के रसायन को उसमें मिलाता चलता है—तुलसी के सम्मत में अन्यत की तरह। जो पाठ ऐसा नहीं होगा वह पारायण-भर हो सकता है—धार्मिक ग्रन्थों के पारायण की तरह। तुलसी का 'मानस' पारायण बाद में, पहले सही पाठ का आकांक्षी है—सचेत मानस का पाठ—'कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता।' भारतीय अवधारणा में इतिहास पुराण भी मात्र घटित घटनाओं व राजवंशों का लेखा-जोखा नहीं है। उनमें भी धर्मार्थ और काम-मोक्ष जीवन के अनेक आयाम दूध में पानी की तरह घुले-मिले होते हैं, री-रीडिंग होती है—नए नजरिए से, युगीन चश्मे से—

*धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।*
*पूर्ववृत्तंकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।* —*विष्णुधर्म 3/15/11*

कथा—उपकथाएँ तो मात्र माध्यम होती हैं। मन्तव्यों को युख्ता करने के लिए कथाएँ, मानो उदाहरणस्वरूप उपस्थित होती हैं। इन कथाओं में आए मिथकों, रूपकों, प्रतीकों, नीति-मूल्यों आदि-आदि अभिव्यक्ति के अनेकानेक सरणियों के द्वारा मूल पाठ का उपबृंहण किया जाता है। ये कथाएँ-उपकथाएँ मात्र मनोरंजन के पुराण नहीं हैं। ये जीवन के आख्यान हैं। जिन्दगी को बेहतर बनाने के विधान हैं। यह विस्तार उस गुह्य (रहस्यमय) ज्ञान का खुलासा है जिसके केन्द्र में मनुष्य है। वह मनुष्य जो भगवान की श्रेष्ठतम कृति है—

'गुह्यं ब्रह्य *तदहं ब्रवीमि, नहि मानुषाच्छेष्ठतरं हि किंचित।।'*

—*महाभारत*

इसी मानव केन्द्रित परम्परा का विकास रामचरितमानस का महाकाव्यत्व है। महादेव मानस की रचना एवं आगम-निगम का उपबृंहण। संवत् 1631 को इसका मूलपाठ तैयार हुआ। तब से अब तक लोकमानस उसका अपने ढंग से पाठ करता

चला आ रहा और पढ़ुआ मानस अपने तरीके से। एक ही कृष्ण को मथुरा के मंच पर कंस क्रूर काल के रूप में देख रहा है तो अन्य मथुरावासी उनके मोहिनी स्वरूप पर न्यौछावर हैं। रामचरितमानस का भी यही हाल है। कंस किस्म के कुछ साहित्यकारों को (जिनका नाम लेना उन्हें फोकट का तब्बजुह देना है।) 'मानस' और गंगा क्रूर कृष्ण जैसे दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि उनको भ्रम का भय है कि यदि 'मानस' की निन्दा न की गई तो उसकी लोकसिद्ध लोकप्रियता उनकी भोगी प्रतिबद्धता को सोख लेगी। उनकी भेदवादी दृष्टि को तुलसी की समतावादी दृष्टि बदल देगी और वे नन्दीग्राम और बस्तर की हिंसा में फर्क नहीं कर पाएँगे। उनकी आँखें प्रतिबद्धता के रोग से पीली पड़ गई हैं, इसलिए वस्तु कुछ की कुछ दिखाई देती है। दलित-चेतना की तथाकथित पक्षधरता से ग्रस्त उनकी चेतना भी कालीकमरी बन गई है। ये ऐसे बुद्धिजीवी हैं जिन्हें अपने अतीत को, पुरखों, पुराणों को आँख मूँदकर व जी भरकर कोसने में ही आनन्द आता है, उन्हें कोई नई रेखा खींचना नहीं आता। उन्हें 'मानस' के वे स्थल व प्रसंग नहीं दिखाई पड़ते जहाँ पर तुलसी दबे, सहमे एवं सहानुभूति के पात्र लोगों के पक्ष में खड़े दिखाई देते हैं। उनकी व्यथा को वाणी देते हैं। उन्हें दुःख पहुँचाने वालों को चेतावनी देते हैं—

*राज करत बिनु काज ही, सजहिं कुसाज कुठाट।*
*तुलसी ते दसकन्ध ज्यों, जइहैं बारह बाट।।*

जैसे सिरफिरे प्रतिपक्षी राजनीतिज्ञों को पक्ष के हर कार्य में कोई-न-कोई खोट दिखाई पड़ जाती है, अच्छाई या तो उन्हें दिखाई नहीं पड़ती या उसे देखने में उन्हें कमजोर पड़ जाने का अन्देशा बना रहता है, वैसे ही कुछ बुद्धिजीवियों की प्रवृत्ति होती है। उनके सिवाय सारे लोग विचारहीन हैं, अबुद्धिजीवी हैं। इसीलिए आजकल बुद्धिजीवी शब्द को उन्होंने अपनी निजी उपाधि बना ली है। इन बुद्धिजीवियों की कुछ खास पहचान है। ये वाम हैं। ये दायाँ चलना नहीं जानते। ये राम से भड़कते हैं और काम के तरफ दौड़ते हैं। इनके चेहरों पर हमेशा बल पड़ा रहता है। तना-तना, खिंचा-खिंचा माथा। हर मौसम की मार से आहत। हिंसा प्रिय। परोपदेश में पाण्डित्य प्राप्त। एंग्रीमैन। संस्कृति-सभ्यता से कोई सरोकार नहीं। बोलने का लड़ाकू अन्दाज, वे जो कुछ करते हैं, वही सभ्यता है। उनका ही जीवन लोकादर्श है। वे मार्क्स के अट्ठासी हजार आधुनिक महर्षि हैं। वेद के वाक्य भूसे हैं और इन दादाओं के वाक्य प्रमाण हैं। ऐसे दादाओं के सामने वेद-पुराण, रामायण, महाभारत, मानस आदि के सन्दर्भ में कुछ कहना अपना दीदा खोना है। समय को जाया करना है, परन्तु ऐसे सद्ग्रन्थों का पुनि-पुनि पेखन आवश्यक कर्म है—धर्म है। बदलते समय के साथ बार-बार इनका पाठालोचन किया जाना जरूरी है—परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए, समय की धूल को साफ करने हेतु, लोक को गुमराह होने से बचाने के लिए और उन्हें

अद्यतन बनाए रखने के लिए। वागर्थ के निधन रचनाओं का बार-बार पाठ किया जाना महज धार्मिकता का कर्मकाण्ड नहीं है। यह तो एक पक्ष है, उसके बहुत सारे महत्त्वपूर्ण अन्य पक्ष भी हैं। वे अन्य पक्ष हैं सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, संवाद और आस्वाद को बनाए रखने का पक्ष। अतीत से वर्तमान को जोड़े रखने का कार्य। नैरन्तर्य को बनाए रखने का पक्ष। इन्हीं सब बातों ने शायद तुलसी के रचनाकार को बार-बार नानापुराण और निगमागमनों से साक्षात्कार करने के लिए प्रेरित किया होगा। इस बात का साक्ष्य 'तब अति रहेऊँ अचेत' पंक्ति देती है। तुलसी ने अपने समकालीन भक्त कवियों को भी पढ़ा—'जे प्राकृत कवि परम सयाने।' उन्होंने सम्मत और अन्यत को मथकर 'मानस' को प्रकट किया है। उनका 'मानस' रामकथा के पुनर्पाठ से उपजी पुनर्रचना है। रामकथा में बहुत सारी काट-छाँट की गई है। इस पुनः प्रस्तुति में कहीं हिन्दू का नाम नहीं लिया गया है, किन्तु समाज में व्याप्त जातिवाद, सम्प्रदायवाद आदि को निराश करते हुए युग और मानवता की माँग के अनुरूप समन्वय का स्वर गुंजाया गया है। यह अनुगूँज, निषाद, शबरी गीध, वानर आदि जैसे समाज के दबे पिछड़े वर्ग के साथ राम ने जो व्यवहार किया है वहाँ अनुगूँज सुनी जा सकती है। निर्गुण और सगुण की पक्ष प्रस्तुति में सुनी जा सकती है। कहीं सवर्ण-असवर्ण में या प्राणी मात्र में भेद-भाव नहीं किया गया है। जिसका मानस सियाराममय रूप में जग को देख रहा हो, वहाँ कैसा भेद? अरे राम कहो! भेद तो हमारे मैले मन में भरा है कि हम 'हरिजन' जैसे शब्द को भी अपवित्र समझ बैठे। तुलसी के राम को तो सबसे ज्यादा खिन्न लोग प्रिय लगते हैं। 'मानस' का पाठ तो सचेत होकर जरा कीजिए।

बालकाण्ड रामचरितमानस का प्रस्थान काण्ड है। चाहे साहित्य के प्रतिमान हों या सामाजिक—सुर नदी गंगा की तरह सबका हित साधना 'मानस' की काव्य-साधना है। ऐसे और गंगा के लिए यह कहना कि 'रामचरितमानस' और 'गंगा' ने हिन्दी प्रदेश की जड़ता, को निठल्लेपन को बढ़ाया है। (वाक्, अंक—2, पृ.8) अपनी जड़ता को उघार करना है। सलज्ज को नंगा करने का दुष्कृत्य स्वयं को नंगा कर देता है—दुर्योधन की तरह। आकाश पर थूकेंगे तो स्वयं थूक-थूक तो हो ही जाएँगे। जिनका मन शहरों के गन्दे विचारों व रहन-सहन का गटर बन चुका हो, विष कीड़े की तरह विष्ठा सेवन में ही दाक छुहारे जैसी निष्ठा हो ऐसे लोग 'मानस' और गंगा में नहाने क्यों जाएँगे? सुन्दर नाम और रूप रखने से क्या होगा? जरा सोचिए कि मॉरीशस, सूरीनाम आदि देशों में जो उत्तर भारतीय 'मानस' की पोटली बाँधकर साथ ले गए, क्या वे लोग निठल्लेपन को लादकर ले गए? क्या वे निठल्ले थे? वे कर्मवीर थे। कलम नहीं, कुदाली चलाने वाले वीर थे। पग-पग पर टूटने-बिखरने से बचाने वाली और नई ऊर्जा, विश्वास और ताकत देने वाली—

*'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहिं सो तस फल चाखा।*
*कादर मनकर एक अधारा। दैव-दैव आलसी पुकारा।।''*

जैसी अनेक मानस पंक्तियाँ क्या जड़ता और निठल्लेपन का सबक सिखाती हैं? धन्य हैं वे और उनकी सोच! दरअसल जो जैसा होता है वह दूसरे को भी वैसा ही समझता है। गांगेय प्रदेश की क्रियाशीलता और प्रतिभा का लोहा आज भी विश्व मानता है। ये 'मानस' भवन पर बार-बार पत्थर फेंकने वाले ऐसे भारतीय सपूत हैं, जिन्हें लद्दाख चीन के हवाले चले जाने पर किसी तरह की पीड़ा नहीं होती, क्योंकि उनका घर सुरक्षित है। माओवादी हिंसा इन्हें वैदिकी हिंसा प्रतीत होती है, क्योंकि वे सुरक्षित हैं। ऐसी जड़ दृष्टिवाले तो मानस को जड़ता का काव्य कहेंगे ही। 'मानस' का साम्यवाद भी उन्हें सवर्णवाद दिखाई पड़ता है। परन्तु मानसकार ने पहले तो ब्राह्मण अवतार परशुराम का ही उपहास कराया है। फिर रावण जैसे पण्डित का वध राम के हाथों करवाया, क्योंकि जिसने भी नीति-मर्यादा का उल्लंघन किया उसने उसका दुष्फल पाया। क्या इस उपहास और वध में हम आप तो देख सकते हैं कि तुलसी के राम की ब्राह्मण भक्ति थी?

हे मार्क्सवाद के भारतीय मॉडल! आप तो मार्क्स से ज्यादा महान हैं। मार्क्स ने भारत की सराहना की थी। आपको तो अपनी मातृभूमि में जड़ता-ही-जड़ता नजर आती है। आप 'मानस' पर कीचड़ उछालकर लोक मानस में घर बनाना चाहते हैं। पर याद रखें, भारतीय लोग ऐसे घटिया और संस्कारहीन नहीं, जो आप जैसों को अपने मानस में बिठाएँ। वे तो कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, रविदास, नामदेव जैसे सन्तों से अपने मानस को रचाते हैं। आप लाख बुलडोजर चलाएँ 'मानस' भवन टूटने वाला नहीं है, क्योंकि वह दीवार रहित श्रद्धा-विश्वास का भवन है। जन-जन के मन में निर्मित भवन। उसकी लोकप्रियता से घबड़ाकर आप कुछ भी बकते रहें, मानस भवन में आर्यजन आरती उतारते रहेंगे।

हर युग लोक और वेद को प्रमाण मानता आया है। सदियों से यदि लोक मानस में 'मानस' रचा-बसा है तो क्या वह लोक मानस की जड़ता है? वे गाहे-बगाहे, अच्छे-बुरे समयों में मानस की चौपाइयों का स्मरण कर ऊर्जा, सहारा, आश्वस्ति, विश्वास पाते हैं। विश्वास नहीं हो तो पूछ लीजिए लोक से। देख लीजिए लोक को! फिर से पढ़ लीजिए तुलसी ने हमेशा लोक की बात की है। पूरे मानस में कहीं 'हिन्दू' शब्द का उल्लेख नहीं है। ब्राह्मणवाद, ब्राह्मण जाति का पर्याय नहीं अपितु भारतीय अध्यात्म और ज्ञान का आदर्श है। उत्तर से अधिक दक्षिण में राम मन्दिर हैं। ठीक है कि पण्डे-पुजारी राम और गंगा, शिव और कृष्ण आदि देव-देवियों को लेकर जायज-नाजायज फायदा उठा रहे हैं। नाजायज बात ठीक नहीं अनीति है, किन्तु याद रखें कि जो कोई भी चन्दन लगाकर धुनी रमाकर तीर्थों में बैठा है उसकी झोली को भी भर देती है आस्थावान जनता। क्या आरक्षण को लेकर उसी वर्ग के कुछ ही लोग मौज नहीं मना रहे हैं? वे क्यों नहीं लागू होने दे रहे हैं आरक्षण में क्रीमि लेयर? क्या कुछ ही मार्क्सवादी मठ के मठाधीश नहीं बने हुए हैं? क्या डॉ. रामविलास शर्मा कम

प्रगतिवादी थे जिन्होंने मानस का भरपूर गान करते हुए लिखा है—''गरीबी के बारे में जितना तुलसी ने लिखा उतना मार्क्स ने भी नहीं लिखा? धन्य है आपकी समझ और आपकी प्रतिबद्धता। मजनूं से भी ऊँची। मजनूं से किसी ने कहा—''आपसे अल्ला मियाँ मिलने आए हैं, मिल लीजिए।''

''उन्हें कहो कि वे लैला की शक्ल में मिलने आवें, वरना मुझे मिलने की फुर्सत नहीं''—मजनूं ने कहा।

तुलसी तो मार्क्स बनकर आपसे मिलने आते भी हैं, पर आप उन्हें देख नहीं पाते। धन्य हैं आपकी आँखें। कई तरह के अन्धेपन से आदमी ग्रस्त होता है। आपका दोष नहीं है। अन्धापन, न सही देखने देता, न सोचने। वरना आप ऐसा कदापि नहीं करते कि 'मानस' को कोट प्राध्यापक और पण्डे लोग ही करते हैं—दुकान चलाने के लिए। बात-बात पर श्लोक की तरह लोक कण्ठ से फूटते चौपाई और दोहे क्या प्राध्यापक या उपदेशक कण्ठ से फूटते आपको सुनाई पड़ते हैं? गाँधी और लोहिया पण्डे या प्राध्यापक थे जो 'मानस' का उद्धरण देते थे। लोहिया ने चित्रकूट में रामायण मेला का आरम्भ करवाया। इसके पीछे उनकी मंशा क्या थी? आप जैसे लोगों ने ही 'हरिजन' जैसे शब्द को अछूत बना दिया है। गाँधी को 'गाँधीगिरी' में बदल दिया है। धन्य हैं आप जैसे लोग!

दरअसल कुछ बुद्धिजीवियों और कुटिल नेताओं को खबरों में बने रहने के लिए भड़काऊ वक्तव्य देने और साजिश रचने में मजा आता है। महारत हासिल होती है। वे बगुला के रूप में हंस बने बैठे होते हैं। राम, रामसेतु, रामचरितमानस आदि इस समय ऐसे ही बिन्दु हैं, जिन पर बोलकर आप रातों-रात मीडिया के चहेते बन सकते हैं। भले ही जनता आपस में लड़ मरे। कुछ लोग आग लगाकर हाथ सेंकने के आदी होते हैं। एक नामी चित्रकार को दुनिया-भर की तमाम वस्तु नहीं सूझी और उसने हिन्दू देवियों का नग्न चित्र बना डाला। यदि उसमें दमखम है तो किसी अन्य मजहब के देव-देवियों का ऐसा चित्र बनाकर तो देखे! सिर कलम कर दिया जाएगा। हाँ! वस्तुतः जरूरत है मानस को बार-बार पढ़ने की। उसकी प्रासंगिकता से रू-ब-रू होने की। उसके सार्वकालिक व सार्वदेशिक मूल्यों को जीने की। इस सन्दर्भ में प्रो. कृष्णदत्त पालीवाल ने ठीक ही कहा—'यह समय तुलसीदास और रामचरितमानस' को खारिज करने का नहीं है। आज तुलसी के नए पाठ का प्रश्न है और इस पाठ -अन्तपार्ठ की बहुत-सी व्याख्याएँ हो सकती हैं। जरूरत उससे नए वाद-विवाद-संवाद की है। हम उसका अध्ययन-आस्वादन-मूल्यांकन ही बन्द कर दें—यह तो सही नहीं होगा। हम इस रचना की नए सिरे से पहचान या प्रासंगिकता की खोज, नव मूल्यांकन, री-रीडिंग-पुनर्विचार और पुनर्रचना उसके टेक्स्ट पाठ से पाठक का नया सामाजिक, सांस्कृतिक संवाद करना चाहते हैं। वाक्, अंक-2, पृ.14-15

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में ही कहा है कि व्यास मुनि ने इतिहास-पुराण के सहारे वेद के गूढ़ पाठों को खोलने के लिए विद्वानों को सलाह दी थी, उस परम्परा को निरन्तर आगे बढ़ाया जाना चाहिए। अपनी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कृतियों का फिर-फिर पठन किया जाना चाहिए। क्रान्तिकारी याज्ञवल्क्य ने गुरु वैशम्पायन से असहमति जताई और नई संहिता तैयार कर डाली, जो युगीन सन्दर्भ में ज्यादा मौजूं थी। आप भी नया मानस लिख डालिए, जो तुलसी से आगे की वस्तु हो। उससे भी अधिक लोकप्रिय जो जाए, किन्तु रचे-बसे मानस को मिटाने में क्या लाभ? वैसे हम और आप तुलसी की तरह साधक तो हैं नहीं कि उनके 'मानस' के आगे कोई नई रेखा खींच सकें, हाँ उसे मिटाने की कोशिश में अपनी नाक की लम्बाई थोड़ी बढ़वा सकते हैं—शूर्पणखा की तरह, क्योंकि मीडिया में बने रहने की कला हम और आप बखूबी जानते हैं। आज यह मन्त्र भी सिद्ध हो चुका है कि जो जितना झूठा, धूर्त, मक्कार, धोखेबाज, लम्पट, गालबजाऊ, बिकाऊ होगा उसकी नाक रोज बढ़ती जाएगी। परन्तु सावधान शूर्पणखा एक दिन नकटी बन जाती है। उसे रावण भी नहीं बचा पाता। कलई खुल जाती है। झूठ के पाँव नहीं होते।

महान रचनाओं का पुनर्पाठ, इसलिए भी आवश्यक लगता है, विशेषकर छन्दोमयी रचनाओं का, कि बहुत सारी ऐसी बातें उनमें पीहित, निहित होती हैं, जो रचनाकार को भी मालूम नहीं होती हैं। काव्य की भाषा बहुअर्थगर्भी होती है। उसके रूपक, प्रतीक, मिथक, एकबारगी जिस किसी के सामने अर्थों को प्रकट करने के आदी नहीं होते। दूसरी बात शब्द कामधेनु होते हैं। एक ही शब्द अनेक अर्थों को प्रकट करते हैं। सन्दर्भ बदल जाने पर उनके अर्थ बदल जाते हैं, आदि-आदि बातों के मद्देनजर टेक्स्ट का बार-बार पाठ करना जरूरी होता है। वेदान्त को लीजिए, वेद-उपनिषद् के बाद शंकराचार्य ने उसके पुनर्पाठ किए। उन्होंने लोक को उसकी नई समझ दी। हजारों वर्ष बाद दयानन्द, विवेकानन्द आदि महापुरुषों ने उसका पाठ किया। विश्व को भारतीय वेदान्त का परिचय दिया। ऐसा परिचय देने या समझने के बजाय अपने धरोहर ग्रन्थों को कचड़ा समझना अपनी कचड़ाई समझ का परिचय देना है—नामसझ सन्तान की तरह। तुलसी तो भाँति-भाँति से सामन्ती मूल्यों को चुनौती देते हैं, उन्हें किसी खास जाति या सम्प्रदाय का कवि करार देना अपनी सोच की सीमा जताना है। ●

# सूरदास का 'भ्रमरगीत सार'

डॉ. स्वाति सोनल

रामचन्द्र शुक्ल 'भ्रमरगीत' को सूरसागर के भीतर का एक सार रत्न कहकर वर्णित करते हैं।[1] रत्नों की बहुमूल्यता काल व स्थान के परे होती है। पुराना होने पर भी वह अपनी बहुमूल्यता से वंचित नहीं होता बल्कि, और अधिक बेशकीमती होता जाता है। निश्चिंत ही रत्न कहकर शुक्लजी 'भ्रमरगीत' की कालजयिता को इंगित करते हैं। कालजयी रचना अर्थात् काल को जीतकर अपनी महत्ता सर्वयुग, सर्वकाल में स्थापित करने वाली रचना। कालजयी कृतियों में ऐसी घटनाओं का निरूपण होता है, जो मनुष्य की चिरस्थायी प्रवृत्तियों से जुड़ी हो, ताकि हर काल का पाठक उससे जुड़ाव महसूस कर सके, उससे कुछ ग्रहण कर सके। कालजयी कृतियों में भावात्मक सघनता, तरलता और एक सीमा तक अमूर्तता होती है। ऐसी कृतियों से गुजरना एक बड़े अनुभव से गुजरने के समान होता है, जिसकी छाप हमारे मन-मस्तिष्क पर काफी देर तक पड़ी रहती है व जो हमें विचार-विश्लेषण करने हेतु उद्वेलित करती रहती है। इस दृष्टि से निश्चय ही सूरदास का 'भ्रमरगीतसार' एक कालजयी कृति है। आज भले ही न गोपियाँ हैं, न कृष्ण, न प्रेम की वह निश्छल स्वाभाविक सहजता-सरलता की व्यापकता; न ही वह ब्रजमण्डल है, न ही ज्ञानी होने पर भी निश्छल गोपियों के समक्ष उनके तर्क से पराजित होकर भी गौरवान्वित महसूस करने वाले उद्धव—परन्तु ये सब तो प्रतीक मात्र हैं; मूल भावों व विचारों की सन्दर्भ सापेक्षिता समकालीन युग में भी अत्यधिक है। साथ ही यहाँ यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि किसी भी कृति की सार्थकता केवल तदयुगीन घटनाओं व भावों के चित्रण तक ही सीमित नहीं रहती अपितु, आने वाले युगों की स्थिति व घटनाओं को विवेचित-विश्लेषित करने व राह दिखाने में वह कितनी समर्थ रह पाती है, यह भी उसकी सन्दर्भ सापेक्षिता निर्धारित करती है। इस आलेख के अन्तर्गत में सूरदास के 'भ्रमरगीतसार' के उन बिन्दुओं को सामने लाने का प्रयत्न करूँगी जो कि आज भी उसकी प्रासंगिकता बनाए हुए हैं।

*पूर्व असिस्टेण्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली, राजस्थान। मोबाइल : 9871148126, ई-मेल : swatisnl@gmail.com

भ्रमरगीत में गोपी-कृष्ण का प्रेम, उद्धव का निर्गुण ज्ञान व गोपियों की सगुण भक्ति के साथ आद्यन्त बना रहने वाला तत्त्व है—'प्रकृति'। 'प्रकृति' भ्रमरगीत में अनुस्यूत है। भ्रमरगीत में प्रकृति का बहुल वर्णन है। यमुना है, खग हैं, वनमोर हैं, करील-कुंज है, और हैं कीकर, कदम्ब, तमाल, आदि। ये सब-के-सब गोपियों के सुख-दुःख के साक्षी होने के साथ-साथ, उनके सुख-दुःख के सहभागी भी हैं। उनके सुख में सुखी और दुःख में व्याकुल—:

*'बिन गोपाल बैरिन भई कुंजैं।*
*तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पूँजैं।*
*(पद संख्या 85)*

प्रकृति और मानव का अत्यन्त गहनतम रिश्ता 'भ्रमरगीत' में व्यक्त हुआ है। प्रकृति और मानव अलग नहीं अपितु शुरुआत से एक रहे हैं। 'भ्रमरगीतसार' पढ़ते हुए आज यह प्रश्न बार-बार मन में उठता है कि क्यों और कैसे यह रिश्ता विशृंखल और खत्म होता गया। वृन्दावन आज भी है। पर कहाँ है वह निर्मल, स्वच्छ यमुना की धारा! कहाँ है सतत छायादार वृक्षों की कतारें! कहाँ हैं मोरों का समूह, गायों का झूमता झुण्ड, और कलरव करते पक्षीगण! पश्चिम से विकास ही होड़ ने ब्रज और साथ-साथ अन्य स्थानों का भावात्मक और सौन्दर्यपूर्ण जगत कब का उजाड़ दिया। और क्या इसके बदले जो विकास हमें मिला, हम उससे सन्तुष्ट और परिपूरित महसूस कर रहे हैं? यह विकास एक चोट की तरह लगने लगा है, जिसकी पीड़ा सालती रहती है। 'भ्रमरगीत' हमें स्मरण कराता है कि हम क्या और कितना कुछ विध्वंस करके विकासशील या प्रगतिशील कहलाने के अधिकारी बने हैं। यह एक ऐसा दस्तावेज है जो हमारे विकास की चोट पर मानो 'नमक' की मरहम लगाता है और हम तिलमिला और बेचैन हो सोच उठते हैं कि क्या खोकर हमने आखिर क्या पाया। प्रकृति की अनुभूति आजकल पाठ्यक्रम तक ही सीमित हो गई है। वस्तुस्थिति तो यह है कि आज बच्चों को 'भ्रमरगीत' पढ़ाते समय कीकर, तमाल, कदम्ब, करील समझाना तक मुश्किल होता जा रहा है।

प्रकृति ये यह विलगाव, भाव क्षेत्र से विलगाव है। ऐसा विलगाव हमें उद्विग्न बना देता है। रिश्तों की गर्माहट, सामाजिकता का बोध, एक-दूसरे के सुख-दुःख में साझी होने का महत्त्व सब मानो शनैः-शनैः विलुप्त होता जा रहा है। 'भ्रमरगीत' में गोकुल-वृन्दावन गाँव नहीं अपितु एक वृहद परिवार की तरह वर्णित हुआ है, जो आपस में लड़ता है, झगड़ता है, परन्तु दुःख-सुख की घड़ी में एक हो उठता है। गोपियाँ यशोदा से कृष्ण की माखन-चोरी की शिकायत करती हैं और उन्हें कृष्ण को दण्डित करने को उकसाती-भड़काती हैं, परन्तु जैसे ही यशोदा उनकी बातों से खीझकर कृष्ण को दण्डित करती हैं, गोपियों का हृदय पिघल उठता है व अपने नुकसान को भूल वे

कृष्ण का बचाव करती हैं। उद्धव केवल नन्द-यशोदा के मेहमान न होकर पूरे गाँव के मेहमान हो जाते हैं। इस मेहमान का स्वागत-सत्कार मिलकर अगर गोपियाँ करती हैं, तो उनकी बातों से पीड़ित होकर एकजुट रूप में उनका मजाक उड़ाने से भी नहीं हिचकती व अपने व्यंग्य-बाणों से उन्हें हताहत कर देती हैं। उद्धव भी ज्ञानी होने के बावजूद इस तिरस्कार को न सिर्फ सहते हैं अपितु अन्त में गोपियों की बातों से अभिभूत हो सगुण भक्ति के मार्ग को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। सहिष्णुता, संवेदना, सामाजिकता, 'वसुधैव कुटुम्बकम' का भाव कितने सुन्दर रूप में भ्रमरगीत में अनेक स्थानों पर अभिव्यक्त हुआ है। अलग-अलग विचारों के व्यक्ति कैसे विवाद नहीं, अपितु संवाद के मध्य रास्ता निकालते हैं—सहभाव व समभाव का; यह मध्ययुगीन 'भ्रमरगीत' हमें सिखाता नजर आता है। आज संवाद कम होते और विवाद बढ़ते जा रहे हैं। आज न उद्धव के पास धैर्य है अपने ज्ञान को तर्क की कसौटी पर कसकर बाँटने का व गोपियों को सहमत करने की सतत चेष्टा करने का, न गोपियों की इच्छा है तर्क को तर्क से काटते हुए अपनी बात सम्यक् व शान्त रूप से रखने की। आज वैचारिक मतभेद, कट्टर विरोध व दुश्मनी का पर्याय बन गया है। मध्ययुग को पिछड़ा व स्वयं को आधुनिक मानने वाले हम यह भूल जाते हैं कि पिछड़ापन कालगत न होकर मानसिक होता है। और इस दृष्टि से हम आज पिछड़ गए हैं। अतः मध्ययुग के प्रति अपने पूर्वाग्रहग्रसित दृष्टिकोण को किनारे रख, अधिक विस्तृत दृष्टिकोण को अपनाते हुए हमें उससे सीखने की आवश्यकता है।

सूर के पदों में 'राधा' का कृष्ण-प्रेम में 'कृष्ण' बन जाना और 'कृष्ण' का 'राधा' बन जाना, तार्किकता की कसौटी पर कसने से असम्भव जान पड़ता है। यह कौतूहल और चमत्कार की सृष्टि करके भले ही हमारा ध्यान आकर्षित करता है व हम मनोविज्ञान के सहारे इस तथ्य की  पैठ तक पहुँचने का प्रयास करते हुए स्थापित करते हैं कि भावनाओं का तादात्म्य इस तरह की वृत्ति का पोषक होता है। पर मनोविज्ञान से भी आगे जाकर इस तथ्य को कृष्णदत्त पालीवाल जी अपने लेख 'करहु मोहि ब्रजरेणु देहु वृन्दावन वासा' में काफी सुन्दर व सुसंगत ढंग से व्याख्यायित करते नजर आते हैं—''हमने इस बात को जानने की ईमानदार कोशिश ही नहीं की कि माधव-माधव रटते-रटते राधा माधव हो गई और माधव राधा। इस पूरी लीला का क्या गहन अर्थ था। यह हमने सोचना-समझना ही बन्द कर दिया। मानव ने अपना हृदय राधा-माधव को दिया था—आनन्द पाया। मानव ने अपना हृदय यन्त्र को दिया—यन्त्र हो गया। भौतिकता को दिया, भौतिकतावादी आँधी में खो गया। 'न माया मिली न राम'। और ठीक से कहें तो धोबी का कुत्ता न घर का रहा न घाट का। भौंक-भौंककर पागल हो गया। पागलपन बाँटने निकल पड़ा।''[2]

निश्चित ही, आज हम यन्त्रवत होते जा रहे हैं, क्योंकि अपना समय समाज, परिवार, दोस्तों से ज्यादा आज हम यन्त्रो के साथ बिता रहे हैं। यह चुनाव हमें करना

होगा कि हम वास्तव में क्या यन्त्रवत होकर खुश हैं या रहेंगे या कोई और राह चुनेंगे। भ्रमरगीत हमें इस चुनाव की याद दिलाता नजर आता है।

'भ्रमरगीत' की सर्वाधिक प्रासंगिकता इसमें निरूपित प्रेम-तत्त्व की है। रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के प्रेमपक्ष को 'लोक से न्यारा' कहा है। यह प्रेम खाली बैठे का काम नहीं। न ही यह दो-चार दिन पुराना है। इस प्रेम ने तो लड़कपन से आकार पाया है व समय के साथ फला-फूला और प्रसारित हुआ है। इसको ऐसे, एक झटके में तोड़ देना सम्भव कहाँ!

*'लरिकाई कौ प्रेम, कहौ अलि, कैसे करिकै छूटत?'* (पद संख्या 34)

यह प्रेम आकर्षण मात्र का प्रेम नहीं है अपितु इसका सहज व स्वाभाविक विकास हुआ है साहचर्य से, संगति से। समय के साथ परिपक्व होता गया है यह प्रेम। इसीलिए इसमें स्थिरता है, धैर्य है, विश्वास है। समय-साध्य प्रेम ही ऐसा विश्वास दिला पाता है, जिससे गोपियाँ सहज ही कह उठती हैं–

*'ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अन्तहि कान्ह हमारो।'* (पद संख्या 94)

आज रिश्तों में प्रेम व स्थिरता का क्षय होता जा रहा है। ऐसा लगता है यहाँ भी मानो एक दौड़ है और इस दौड़ में हम सतत भागते हुए जीतने की जद्दोजहद करते नजर आते हैं। जितनी जल्दी हमें रिश्ता बनाने की होती है, परिस्थिति की मार से उतनी जल्दी ही इस रिश्ते से उबरने की बेचैनी भी होती है। प्रेम धैर्य की माँग करता है। प्रेम समझ की माँग करता है। प्रेम विश्वास की माँग करता है। और आज न हमारे पास समय है, न धैर्य, न समझने की लालसा और न ही विश्वास। गोपियों का निःस्वार्थ प्रेम ऐसे में मानो हमारा पथ-प्रदर्शक बनता है और प्रेम की उद्दात्तता से परिचित कराता है–:

*'हमारे हरि हारिल की लकरी।*
*मन बच क्रम नन्दनन्दन सों उर दृढ़ करि पकरी।' (पद संख्या 52)*

परन्तु साथ ही प्रेम में अपने स्वाभिमान के साथ समझौता नहीं करना चाहिए इसके भी संकेत देता नजर आता है। गोपियाँ कृष्ण से प्रेम करती हैं और यह प्रेम इकतरफा न होकर दोतरफा है। मथुरा जाते समय कृष्ण कलपती गोपियों से वायदा करके जाते हैं शीघ्र ही गोकुल लौटने का। पर मथुरा जाकर वे वहाँ की राजनीति, वहाँ के क्रिया-कलापों में इतना उलझ जाते हैं कि अपना वायदा पूरा नहीं कर पाते और लौटकर गोकुल नहीं आते। गोकुल से मथुरा की दूरी बहुत अधिक नहीं थी। गोपियाँ चाहतीं तो स्वयं कृष्ण के दर्शन व सामीप्य-लाभ हेतु वहाँ पहुँच सकती थीं। शुक्ल जी भी लिखते हैं–''गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन, वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध

से नहीं।''[3] परन्तु गोपियाँ दो-चार कोस दूर मथुरा जाने को तत्पर नहीं दिखतीं। वे विरह में व्याकुल रहती हैं, रो-रोकर अपनी साड़ियाँ भिगोती रहती हैं, उन पर सदा पावस ऋतु छाया रहता है, परन्तु बावजूद इसके वे मथुरा का रुख नहीं करतीं। क्यूँ नहीं करतीं? क्या उनका विरह दिखावा मात्र है? नहीं। कारण शायद यह है कि गोपियाँ स्वाभिमानिनी हैं। कृष्ण को अगर उनकी परवाह नहीं, उन्हें अपने राज-काज से फुर्सत नहीं, तो क्यूँ वो जबरदस्ती उनसे मिलने, उनके राज-काज में दखलन्दाजी करने मथुरा जाएँ। यह प्रेम एक निष्ठता लिये हुए है। इसमें धैर्य व समर्पण है। पर साथ में स्वाभिमान भी है। ''इसकी मूल चेतना है जीवन की सहज स्वीकृति और चयन की स्वतन्त्रता। सूर के गोपी समाज में स्त्री को पुरुष-वर्चस्व से मुक्त कर उसे आत्मगौरव और सम्मान दिया गया है। प्रेम में वह बराबरी के दर्जे की हकदार है। उसमें यह साहस है कि वह कृष्ण से मिलना अपनी शर्तों पर स्वीकार करे और उद्धव के द्वारा सुझाए विकल्प को ठुकरा दे। शायद भारतीय साहित्य में नारी-मुक्ति की यह पहली उद्घोषणा है। साथ ही आचरण में 'स्वतन्त्रता' की जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकृति।''[4] नर और नारी की समानता की यह मध्ययुगीन परिकल्पना आज भी भौगोलिक स्तर पर युवाओं को प्रेम का समतापरक पाठ पढ़ाता नजर आता है।

निष्कर्षतः, यह सहज ही कहा जा सकता है कि सूरदास के 'भ्रमरगीतसार' की समकालीन सन्दर्भ सापेक्षिता अत्यधिक है। आवश्यकता है तो इस बेशकिमती रत्न के मूल्य से अवगत होने की कोशिश करने की व इसकी मूल्यवत्ता से अधिकाधिक लाभ उठाने की। रत्न पास होते हुए भी इसकी मूल्यवत्ता से अनभिज्ञता हमारा हतभाग्य होगा, न कि रत्न का दोष। इस रत्न की कान्ति हमारे भविष्य का मार्ग प्रशस्त कर पाएगी, ऐसी कामना ही की जा सकती है। अस्तु! ●

## सन्दर्भ


1. शुक्ल या रामचन्द्र भ्रमरगीतसार वक्तव्य।
2. पालीवाल डॉ. कृष्णदत्त सीया रामय सब जग जानी, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 1007, पृ. 89-90
3. पृ. 13 भ्रमरगीत सम्पादक-आ, रामचन्द्र शुक्ल।
4. जैन निर्मला पुस्तक-सूरदास रामचन्द्र शुक्ल, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2008 भूमिका।

# भाषा और राष्ट्रीयता

अखिलेश कुमार गौतम

अपने प्राथमिक गुणों में भाषा विचारों के आदान-प्रदान का एक सशक्त एवं सटीक माध्यम है। विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम के रूप में, यह अपने साथ बहुत-सी विशेषताएँ लिये हुए है। यह विशेषताएँ वह अपने पाँच रूपों में धारण किए होती है, जो हैं, लिपि, बोली, श्रवण-कौशल, पठन और सांकेतिक अभिव्यक्ति। अपने इन पाँचों रूपों के माध्यम से कोई भी भाषा एक समाज में ऐतिहासिक निरन्तरता को बनाए रखने का कार्य बहुत ही सटीक ढंग से करती है। जब हम मानव विकास को गहनता से समझने का प्रयास करते हैं, तो इस पूरे विकास-क्रम में भाषा की बेहद महत्त्वपूर्ण भूमिका को सरलता से चिह्नित कर पाते हैं। मनुष्य का सामाजिक होना कई मायनों में उसके द्वारा भाषा के माध्यमों के विकास के इतिहास से सम्बन्धित है। बोलने और सुनने के कौशल व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं, इनको प्राथमिक भाषा कौशल कह सकते हैं। इन कौशलों के विकास में व्यक्ति को अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। इनको तो वह समाजीकरण की प्रक्रिया में ही बड़ी सटीकता से सीखता चला जाता है। इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में व्यगोत्स्कि (1962) का मानना है, ''बच्चे भाषा को समाज के अन्य सदस्यों के साथ अन्तःक्रिया करके सीखते हैं।'' भाषा सीखने अथवा ग्रहण करने के सम्बन्ध में यह सामाजिक अन्तःक्रिया की प्रक्रिया एक सरल और प्राकृतिक प्रक्रिया है। इसमें अवलोकन और अभ्यास करने की क्रियाएँ महत्त्वपूर्ण भूमिका में होती हैं। वहीं किसी भी व्यक्ति के लिए लिखने और पढ़ने के कौशल सीखने एक जटिल एवं व्यवस्थित प्रक्रिया है। ये दोनों कौशल विकसित करने के लिए व्यक्ति को एक विशेष प्रकार के निर्देशन एवं शिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए इन कौशलों को भाषा के गौण कौशल कह सकते हैं। यहाँ ये बात ध्यान रखने योग्य है कि भाषा के लेखन कौशल का इतिहास बहुत पुराना है। बेशक लेखन अभिव्यक्ति हमेशा से इतनी व्यवस्थित और सटीक नहीं रही जितनी यह आज अपने विकसित रूप में दिखती है, परन्तु इस कौशल की विकास-यात्रा अपने-आप में मानव

पी-एच.डी. शोधार्थी, केन्द्रीय शिक्षण संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय।

विकास की कहानी कहती है। भाषा के इन चार कौशलों के अतिरिक्त सम्प्रेषण का एक और बेहद सटीक माध्यम है, सांकेतिक अभिव्यक्ति। भाषा कौशलों में यह सबसे पुराना और सबसे सरल है। यह अन्य भाषा कौशलों के साथ काफी सटीक और अर्थपूर्ण भी हो जाता है। इन सभी भाषा कौशलों के विकास और महत्त्व को समझना ही समाज के सन्दर्भ में भाषा के महत्त्व को समझने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जहाँ तक प्रश्न राष्ट्रीयता का है, तो किसी भी समाज के सदस्य इसे एक चेतना के रूप में साझा करते हैं, इस चेतना का पहला पड़ाव समाज के सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति सह-अस्तित्व और विश्वास की भावना का साझा होना है। यकीनन सह-अस्तित्व और विश्वास की यह भावना एक गहन और निरन्तर चली आ रही अन्तःक्रिया का परिणाम है। बिना भाषा के इस प्रकार की अन्तःक्रिया की कल्पना करना भी बहुत ही मुश्किल कार्य है। इसलिए एक सामूहिक चेतना के रूप में राष्ट्रीयता प्रत्यक्ष रूप से भाषा से सम्बन्धित मसला है। जोशुआ फिशमैन (1973), इस सम्बन्ध को बड़ी गहराई से अभिव्यक्त करते हैं ''राष्ट्रीयता का मूलतत्त्व इसका भाव, इसकी वैयक्तिकता और इसकी आत्मा है। यह आत्मा जो न सिर्फ मातृभाषा द्वारा प्रतिबिम्बित और संरक्षित है, बल्कि कई मायनों में मातृभाषा स्वयं राष्ट्रीयता की इस आत्मा का एक पक्ष है।'' यह कथन राष्ट्रीयता और भाषा के सम्बन्ध के दर्शन और अध्यात्म को बड़ी सटीकता से अभिव्यक्त करता है। सरल शब्दों में समझें तो एक तरफ भाषा, राष्ट्रीयता के मूल तव का एक अभिन्न अंग है, तो दूसरी तरफ यह राष्ट्रीयता के मूल तत्त्वों के संरक्षण की भूमिका में भी है। भाषा की राष्ट्रीयता को अधिक गहराई से समझने के लिए हमें भाषा, मानव-समाज और राष्ट्रीयता के आपसी सम्बन्धों को बेहद बारीकी से समझने की आवश्यकता है।

## मानव-समाज में भाषा

कोई भी समाज अपने साथ साझा इतिहास लिये हुए होता है। उसके सदस्य आपस में जो सह-अस्तित्व और विश्वास की भावना साझा करते हैं, उसकी नींव वर्तमान की आपसी जरूरतों और सहयोग से कहीं अधिक उनकी ऐतिहासिक निरन्तरता और सांस्कृतिक विरासत में स्थापित होती है। अब प्रश्न उठता है कि कोई भी समाज इस ऐतिहासिक निरन्तरता और सांस्कृतिक विरासत को कैसे सँभाल के रखता है? यकीनन इसका उत्तर होगा 'भाषा', जो उस समाज के साथ निरन्तर विकसित हुई, अपने माध्यमों में, अपने सम्प्रेषण में और अपने विश्लेषण में। समाज के निर्माण एवं विकास की बात की जाए तो ऐसे कई तत्त्व हो सकते हैं, जिनसे मिलकर कोई समाज बनता है एवं विकास करता है परन्तु समाज जैसी किसी संस्था के निर्माण और विकास में जो सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वह है सम्प्रेषण। कुछ व्यक्ति मिलकर तब तक कोई संस्था नहीं बना सकते जब तक वे एक-दूसरे को समझ और समझा नहीं सकते। साधारण शब्दों में समाज नामक संस्था के आधार में भी व्यक्तियों का कोई एक ऐसा

समूह रहा होगा, जो जैविक निकटता के अतिरिक्त एक प्रकार के सम्प्रेषण निकटता को भी साझा करता होगा। मानव-समाज में भाषा अपने कई महत्त्व लिये हुए हैं उनको हम कुछ बिन्दुओं की सहायता से समझ सकते हैं–

1. मानव-समाज को संगठित करने का श्रेय भाषा को ही जाता है। मलिनोवस्की (1918) के अनुसार भाषा सम्प्रेषण का सबसे अनिवार्य माध्यम है। इसके बिना सामाजिक व्यवहारों को संगठित करना लगभग असम्भव है। यह कार्य सम्प्रेषण के माध्यम से होता है।
2. हम भाषा को सिर्फ सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में सीमित नहीं कर सकते। कई मायनों में भाषा उससे कहीं अधिक है। अगर हम कहें कि भाषा ने मनुष्य को एक तार्किक जीव के रूप में विकसित होने में काफी सहायता की है, तो गलत नहीं होगा। बौद्धिक तार्किकता का सम्बन्ध कहीं-ना-कहीं वैचारिक सटीकता और अर्थपूर्ण सम्प्रेषण से है।
3. किसी भी सभ्यता के निर्माण और विकास के आधार में भाषा ने एक बेहद महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। चूँकि भाषा की प्रकृति सामाजिक होती है, इसलिए ये किसी भी समाज से परस्पर सम्बन्धित हैं। स्टालिन के अनुसार ''यह समाज के विकास और उद्‌भव के साथ विकास करती है। जब कोई समाज मरता है तो यह भी मर जाती है। समाज से अलग होकर किसी भाषा का कोई अस्तित्व नहीं है।''
4. अगर हम मानव-विकास की तुलना अन्य जीवों के विकास से करें तो यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि मनुष्य ने भाषा के विभिन्न कौशलों को निरन्तर और तीव्र गति से विकसित किया। अगर साधारण शब्दों में कहा जाए तो बोली की खोज ने ही मानव-विकास को आरम्भ किया।
5. भाषा विचारों की अभिव्यक्ति के लिए मनुष्य के पास सबसे सटीक और अर्थपूर्ण माध्यम है।
6. भाषा के कुछ महत्त्वपूर्ण गुण हैं, इनमें से एक है कि भाषा हमेशा विकासशील रहती है, अगर इसका विकास रुका तो वह स्वतः ही पतन की ओर बढ़ने लगेगी।
7. भाषा सिर्फ सम्प्रेषण के माध्यम से कहीं अधिक है अपने साथ गहन सांस्कृतिक अर्थ लिये हुए होती है। यह जिस समाज में रहती है उस समाज के सांस्कृतिक अर्थों को सँभाले रखती है।
8. कई मायनों में भाषा समाज का दर्पण भी है। यह किसी समाज के प्रवृति और प्रकृति दोनों का ही उल्लेख करती है। अगर आपको किसी समाज को गहराई से समझना है, तो उस समाज की भाषा को गहराई से समझना होगा।

## राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता एक प्रकार की चेतना है जो एक समूह के लोग आपस में साझा करते हैं। यह चेतना अपने साथ सह-अस्तित्व और सहयोग की भावना लिये होती है। इस चेतना का विकास एक लम्बे इतिहास की माँग करता है। अगर अधिक गहनता से स्पष्ट किया जाए तो राष्ट्रीयता वह चेतना है, जो एक समूह के सदस्य ऐतिहासिक निरन्तरता में विकसित करते हैं। राष्ट्रीयता की चेतना एक समूह के सदस्यों के साझा इतिहास, साझा भाषा, साझा सांस्कृतिक विरासत से सम्बन्धित है। राष्ट्रीयता को अक्सर नागरिकता और राष्ट्रवाद का समानअर्थी शब्द समझ लिया जाता है, लेकिन यह मौलिक रूप से उनसे अलग है। राष्ट्रीयता एक राष्ट्र की सदस्यता है और यह सदस्यता एक राज्य या देश की सदस्यता से अलग है। राष्ट्रीयता को समझने के लिए हमें राष्ट्र को समझना होगा। साधारण शब्दों में राष्ट्र एक संस्था है, जो लोगों के एक साथ रहने की इच्छा से, ऐतिहासिक निरन्तरता में विकसित होता है। ऐतिहासिक निरन्तरता में विकसित यह संस्था अपने साथ एक समूह के लोगों का साझा इतिहास, साझा भाषा और साझा सांस्कृतिक विरासत लिये हुए है। इन तमाम तत्त्वों की उपस्थिति में जब राष्ट्र के सदस्य एक-दूसरे के साथ सह-अस्तित्व एवं सहयोग की भावना विकसित कर लेते तो वह राष्ट्रीयता की पहचान से जुड़ जाते हैं। इस पहचान को दृढ़ एवं गहन करने में भाषा एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में भूमिका निभाती है।

## भाषा और राष्ट्रीयता

एम.एन. कर्ण (1999) के अनुसार ''कोई भी राष्ट्र एक भाषाई इकाई है।'' यह कथन अपने-आप में भाषा और राष्ट्र का एक गहन सम्बन्ध बताता है और भाषा को राष्ट्र के निर्माण का एक अनिवार्य तत्त्व बना देता है। एक ही भाषा को बोलने वाले आपस में एक साझा बन्धन विकसित करते हैं और सामाजिक स्मृतियों की एक समान संस्कृति साझा करते हैं। यह प्रक्रिया एक समूह के लोगों में एक प्रकार का अटूट बन्धन का निर्माण करती है जो अपनी प्रकृति में इतना गहरा और स्वाभाविक होता है कि उसे किसी विशेष प्रकार के दिशा-निर्देश अथवा आदेश की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहाँ पर भाषा और संस्कृति के सम्बन्धों का विश्लेषण करना भी अनिवार्य हो जाता है। भाषा जिस प्रकार सामाजिक स्मृतियों से सम्बन्धित होती है, उससे अधिक निकटता से यह किसी समूह की संस्कृति से सम्बन्धित होती है। अगर आपको किसी की संस्कृति को प्रभावित करना है तो उसकी भाषा को प्रभावित करना शुरू कर दीजिए। इस सम्बन्ध में लिबरमैन लिखते हैं ''जो भी भाषा को नियन्त्रित कर लेता है, वह संस्कृति को भी अपने नियन्त्रण में कर लेता है।'' इस कथन को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए हम भारत के औपनिवेशिक काल को समझने का प्रयास कर सकते हैं। अँग्रेजों द्वारा भारत में शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी बनाने के पीछे यह ही विचार

काम कर रहा था। भारतीय शिक्षा में अँग्रेजी को लाने का श्रेय लॉर्ड मैकोले को जाता है। उनके विचारों में सांस्कृतिक दासता, राजनैतिक दासता से अधिक प्रभावी है। अँग्रेजों की इस रणनीति का असर आज आजादी के 70 साल बाद भी हमें प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है। हम सांस्कृतिक रूप से किसी भाषा द्वारा लाई गई संस्कृति को स्वेच्छा से अपने जीवन का अभिन्न अंग बना चुके हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि जिस अँग्रेजी भाषा को अँग्रेजों ने एक रणनीति के तहत भारतीय शिक्षा में अनिवार्य किया था, उसने ही भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की नींव रखने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अँग्रेजी ने भारतीय राष्ट्रवाद के उद्‌भव में भी एक बेहद महत्त्वपूर्ण भूमिका में थी। भारत में अंग्रेजी भाषा का उद्‌भव एवं विकास का इतिहास स्वयं भाषा की बहुआयामी प्रकृति एवं प्रवृत्ति की व्याख्या है। भाषा राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में संगठन का कार्य भी बहुत ही व्यवस्थित ढंग से कर पाती है। थॉमस हॉब्स के अनुसार, "भाषा संसार की व्याख्या करती है, लेकिन वह वादे और समझौते भी स्थापित करती है। राष्ट्रवाद के प्रचार और प्रसार के सम्बन्ध में भाषा की भूमिका किसी परिचय पर निर्भर नहीं है। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि हम भाषा का प्रयोग किस प्रकार करते हैं।" फिशमैन (1973) भाषाई राष्ट्रवाद अपने वैचारिक शिखर तब तक नहीं पहुँच सकता जब तक राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति और चिह्नों में वह भाषा को एक स्पष्ट और सटीक रूप से चित्रित नहीं करता है। राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में भाषा के महत्त्व को अधिक गहराई से समझने के लिए हममें इस सम्बन्ध में भाषा के तीन भूमिकाओं को विस्तार से समझना होगा।

*ऐतिहासिक कड़ियों को जोड़ने में भाषा की भूमिका*—मानव समाज में इतिहास दो रूपों में पाया जाता है, एक लिखित और दूसरा मौखिक। लिखित इतिहास प्रायः तथ्यों पर आधारित होता है। परन्तु मौखिक इतिहास प्रचलित ज्ञान और सांस्कृतिक अर्थों को लिये हुए होता है। राष्ट्रीयता की चेतना के विकास में जितना योगदान लिखित इतिहास का है, उससे कहीं ज्यादा योगदान मौखिक इतिहास का है। इसके कई कारण हैं, जैसे, मौखिक इतिहास, लिखित इतिहास की तुलना में अधिक सरल और रोमांचक होता है। यह आम जनमानस तक बड़ी सरलता से पहुँच सकता है, क्योंकि इसके साथ पठन कौशल की अनिवार्यता नहीं है। यूँ तो भाषा की भूमिका दोनों प्रकार के इतिहास को रचने के लिए अनिवार्य है, परन्तु मौखिक इतिहास चूँकि स्थानीय बोली में ही संरक्षित रह सकता है, इसलिए इतिहास के इस रूप के संरक्षण में भाषा एक अनिवार्य भूमिका में होती है। इस प्रकार का प्रचलित इतिहास तब तक ही जीवित रहता है, जब तक ये हमारे जहन में रहता है। जिस वक्त किसी सामाजिक या राजनीतिक कारणों से इस इतिहास की कड़ियाँ टूटने लगती हैं तो भाषा इन कड़ियों को जोड़ने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

*सांस्कृतिक विरासत की वाहक रूप में भाषा*— जसीजी (1929) के अनुसार, ''मातृभाषा सभी व्यक्तियों के लिए के गर्व का विषय है। इसके खजाने में सांस्कृतिक

इतिहास का एक घोषणा-पत्र निहित है।'' संस्कृति बड़ी ही अमूर्त अवधारणा है, यह हमारे व्यवहारों और विचारों के माध्यम से ही स्पष्ट होती है। संस्कृति किसी समूह में एक लम्बे समय में विकसित होती है और उस समूह के आचार-विचार में जीवित रहती है। संस्कृति को लिपिबद्ध करना इसके जीवित रहने के सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं कर पाता है। सांस्कृतिक विरासत एक क्रियाशील भाषा के माध्यम से ही विभिन्न पीढ़ियों में सफर करती है। यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि सांस्कृतिक विरासत राष्ट्रीयता की चेतना का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

*राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में मिथकों को रचने और उन्हें जनमानस तक पहुँचाने भाषा की भूमिका*—राष्ट्रीयता की भावना किसी बन्धन या नियम से नहीं बँधी होती। यह व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से पैदा होती है और स्वेच्छा से विकसित होती है। ऐसे में राष्ट्र के सामने हमेशा यह चुनौती रहती कि अपने नए सदस्यों को किस प्रकार जोड़ कर रखा जा सके। इस सन्दर्भ में राष्ट्र के प्रतिनिधि एवं वरिष्ठ सदस्य कुछ मिथक रचते हैं, जो राष्ट्र को उसके गौरवपूर्ण इतिहास और साहसी घटनाओं के प्रकाश में अपने नए सदस्यों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यह मिथक समय के साथ किसी भी समाज में विकसित होते हैं, और धीरे-धीरे लोगों की सामाजिक वास्तविकता का हिस्सा बन जाते हैं। इन मिथकों को रचने में और अगली पीढ़ी तक पहुँचाने में भाषा की भूमिका अनिवार्य है।

*राष्ट्र के सदस्यों के मनोवैज्ञानिक जुड़ाव में भाषा की भूमिका*—राष्ट्रीयता कई मायनों में एक मनोवैज्ञानिक जुड़ाव है। यह लोगों की भौतिक वास्तविकता से अधिक लोगों के मनस से सम्बन्धित है और इसकी यह विशेषता ही इसके सम्बन्ध में भाषा को एक अनिवार्य तत्त्व बनाती है। दरअसल, भाषा के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक जुड़ाव शब्दों के समान अर्थ से सम्बन्धित मसला है। कोई भी भाषा अपने अर्थ अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों से लेती है। भाषा का इतना गहरा होना ही उसे मनुष्य के मनोविज्ञान का एक बेहद गहन तत्त्व बना देता है।

## निष्कर्ष

राष्ट्र एक गहन सामाजिक सम्प्रेषण और सहयोग की उत्पत्ति है। यह सम्प्रेषण और सहयोग बिना भाषा के सम्भव नहीं है, इसलिए अगर कहा जाए कि भाषा राष्ट्र-निर्माण का एक बेहद महत्त्वपूर्ण तत्त्व है तो गलत नहीं होगा। किसी भी राष्ट्र के सदस्यों को आपस में जोड़ने का कार्य कोई भाषा ही कर सकती है। हमारे सामने कई अपवाद हो सकते हैं जब भाषाई विविधता वाले समूह भी एक राष्ट्र के रूप में विकसित हुए लेकिन इन अपवादों में राष्ट्र राजनीतिक इकाई की तरफ बढ़ती हुई एक संस्था बनती दिखती है। अपने प्राकृतिक रूप में राष्ट्र यकीनन एक भाषा पर आधारित संस्था है। इस सम्बन्ध को समझने के लिए जब हम राष्ट्र की विशेषताओं को देखते हैं, तो पाते हैं कि राष्ट्र ऐसी कई विशेषताएँ लिये हुए है जो इसको एक भाषाई इकाई बनाता है।

राष्ट्रीयता चेतना के निर्माण और विकास में भी भाषा की भूमिका बहुत गहरी है। यह भाषा से उस तरह ही सम्बन्धित है जिस तरह राष्ट्र भाषा से सम्बन्धित है। राष्ट्रीयता एक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है, जिसको राष्ट्र के सदस्य जीते हैं। यह सम्बन्ध साझा इतिहास, साझा भाषा, साझा धर्म, निश्चित क्षेत्र और साझा संस्कृति की बुनियाद में निर्मित एवं विकसित होता है। यूँ तो राष्ट्रीयता के आपसी सम्बन्ध की चेतना के विकास में ये सभी तत्त्व अपना विशेष महत्त्व रखते हैं, लेकिन भाषा इन सभी तत्त्वों के बीच सेतु का कार्य करती है। किसी भी राष्ट्र को अपने सदस्यों में राष्ट्रीयता की भावना एवं चेतना के विकास के लिए अपने इतिहास को वर्तमान पीढ़ी तक निरन्तर पहुँचाते रहना होता है। एक साहसी और गौरवपूर्ण इतिहास हमेशा ही राष्ट्र के सदस्यों में राष्ट्र के प्रति जुड़ाव को अटूट एवं क्रियाशील रखता है। राष्ट्र को अपने इतिहास को वर्तमान पीढ़ी तक एक प्रभावशाली ढंग से पहुँचाने के लिए कुछ मिथकों को रचना पड़ता है जो टूटी हुई इतिहास की कड़ियों को आपस में जोड़ने का कार्य भी करती है। इन मिथकों को रचने और उनको लोगों तक पहुँचाने में भाषा अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इस प्रकार राष्ट्रीयता की चेतना के विकास में भाषा की भूमिका और महत्त्व अतुलनीय है। जैसे-जैसे हम राष्ट्र के विकसित रूप राष्ट्र-राज्य की तरफ बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे हम इस संस्था में भाषाई विविधता को भी स्थान देने लगे हैं। एक-भाषा एक राष्ट्र का विचार अब धीरे-धीरे अपनी प्रासंगिकता खोता जा रहा है। क्योंकि राष्ट्र नामक संस्था एक राजनीतिक इकाई के रूप में निरन्तर विकास कर रही है। ●

## सन्दर्भ


Anderson, benedict. (1983). Imagined communities : Reflection on the origin and spread of nationalism. London: verson

Fishman, Joshua. (1973). Language and nationalism. Rowley, mass : newbury house also included in stuart woolf (ed). nationalism in Eurpoe. 1815 to th present : A reader, London: Routhedge.

Jaszi (1929) The Dissolutions of the halisburg monarchy, Chicago.

Karna, M.N. 1999 Language, region and national identity. In sociological bulletin. vol. 48, No. 1/2 (March-September 1999), pp. 75-96 http://www.jstor.org/stable/23619930?seq=pdf-reference#references_tab_contents accessed : 28-12-2017, 12:07

Mkanganwi, K.G. (1918) "Zimbabwe, soicioliguistically speaking". An open letter to all "planners" in sociolinguistic Newsletter ed. Drissen, Jon. Vol. XII No. 2, p. 6-7.

Stalin, J.V. and Lenin, V.I. (1970) Selections on National Colonial Question. Calcutta Book House, Calcutta.

# नई सदी में पुरुषार्थ की प्रासंगिकता

डॉ. अमिता पाण्डेय

मानव सृष्टि की गौरवमयी अभिव्यक्ति है तथा उसे ईश्वरीय सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में देवसंस्कृति में वर्णित किया गया है। जीवधारी तो अनेक हैं, अनेकानेक प्रकार के हैं। किन्तु उनमें से मनुष्य का स्थान सर्वोपरि है। क्योंकि वही एक ऐसा प्राणी है जो विवेक-बुद्धि से समन्वित है तथा ज्ञान-गरिमा का अधिकारी पात्र है। अन्य सभी मतावलम्बियों का यह मानना है कि मनुष्य का विकास एक सीमा तक ही सम्भव है, वह पैगम्बबर देवदूत तो बन सकता है, पर भगवान् नहीं बन सकता। किन्तु हमारी संस्कृति कहती है जीवो ब्रह्मैव नापरः मनुष्य की सामर्थ्य अन्तर्निहित शक्ति, उसे ब्रह्म की परम् सत्ता के समकक्ष बना देती है। कितना अद्‌भुत व विलक्षण यह चिन्तन है जो मनुष्य को सतत पुरुषार्थ परायण बनाते हुए उसे लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए सदा प्रेरित करता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि तीन अतिदुर्लभ पदार्थों, मनुष्यत्व मुमुक्षत्व रूस महापुरुसंश्रय में सर्वप्रथम मनुष्यत्व ही प्रधान है (सौन्दर्य लहरी) वही मनुष्य जन्म मिला व प्रसाद में भोग में गँवा दिया तो इससे बड़ी अदूरदर्शिता क्या कही जा सकती है? इसलिए तीर्थंकर महावीर कहते हैं–''गाढा या विवाग कम्मुणों संयम गोयत्र मापमायए'' अर्थात् कर्मों के फल बड़े तीव्र होते हैं। इसलिए हे जीव, क्षण-भर के लिए भी तू प्रमाद कन कर'' (उत्तराध्यन सूत्र 10-4)। इसी प्रकार देवी भागवत् में ऋषि है–

*दुर्लभो मानुषो देहो देहिनाँ क्षण भंगुरः।*
*तस्मिन प्राप्ते तु कर्तृत्वयं सर्वथै व ऽऽत्मासाधनम्।।*

अर्थात् ''अस्थिर एवं अनित्य मानव देह को पा करके इसके द्वारा नित्य, शाश्वत् सत्य तत्त्व को जानने का प्रयास कर आत्मकल्याण की प्राप्ति करना चाहिए। यह मनुष्य जन्म का प्रमुख कर्तव्य है'' इसका आशय यही है कि मनुष्य जन्म किन्हीं

*विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र, आई.एस.पी.जी. कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
amita.isdc@gmail.com

उद्देश्य विशेष के लिए पुरुषार्थ करने के निमित्त मिला है तो मनुष्य को उनमें स्वयं को नियोजित कर अपनी जीवन-यात्रा सफल बनानी चाहिए।

हमारे यहाँ पुरुषार्थ चिन्तन अत्यन्त प्राचीन है। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत से लेकर कौटिल्य और परवर्ती विशाल साहित्य पुरुषार्थ विषयक वर्णन से भरा पड़ा है। महाभारत के तो प्रारम्भ में ही ग्रन्थ के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाला प्रसिद्ध पद्य है—धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित (आदिपर्व 62.53) महाभारत के शान्तिपर्व में आए एक प्रसंग के अनुसार पीड़ित देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा जी ने नीतिशास्त्र की रचना की जिसमें धर्म, काम और मोक्ष का विवेचन किया (शान्तिपर्व 59.29.30)

मनुष्य जन्म भारतीय संस्कृति के चिन्तन के अनुसार चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद मिलता है। वह भी प्राकृतिक विधान से व सौभाग्यवश। आचार्य शंकर कहते हैं कि तीन अति दुर्लभ पदार्थों मनुष्यत्व, मुमुक्षत्त्व रूस महापुरुसंश्रय में सर्वप्रथम मनुष्य ही प्रधान है।

योग वसिष्ठ के अनुसार सद्जनो और शास्त्र के उपदेश अनुसार चित्त का विचरण ही पुरुषार्थ कहलाता है। (सौन्दर्य लहरी) हिन्दू संस्कृति के अनुसार पुरुषार्थ सामाजिक संगठन की एक चतुर्वर्गीय व्यवस्था है। जीवन की सफलता पुरुषार्थ सिद्धि पर ही निर्भर है। पुरुषार्थ से व्यक्ति और समाज का विकास होता है। पुरुषार्थ जीवन-पद्धति और जीवन-दर्शन के रूप में ऐसी अवधारणा है, जिसके अनुसार मनुष्य अपना जीवन जीता है तथा विभिन्न कर्तव्यों का पालन करता है। यह ज्ञान, भावना, क्रिया की सम्पूर्णता के साथ लौकिक जीवन को जीने की, और तत्पश्चात् भावी जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने की एक व्यवस्था है। जीवन का एक लक्ष्य है और उसे प्राप्त करना ही है और वह लक्ष्य है पुरुषार्थ सिद्धि। पुरुषार्थ की इसी अवधारणा के अनुसार जीवन का ताना-बाना बुना गया है। पुरुष के उद्देश्य और उन उद्देश्यों की प्राप्ति पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ द्वारा समाज की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति की व्यवस्था की गई है। पुरुषार्थ केवल आदर्श नहीं व्यवहार है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतः उसकी अनेक सामाजिक आवश्यकताएँ हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति मनुष्य के लिए आवश्यक है। मनुष्य की जैविक आवश्यकताएँ उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी आध्यात्मिक आवश्यकताएँ अध्यात्म का सम्बन्ध समाज से है। समाज से अलग अध्यात्म की साधना का क्या महत्त्व हो सकता है? अध्यात्म में सर्वात्मभाव अपना विशेष महत्त्व रखता है, और यह सर्वात्मभाव समाज के अभाव में कोई अर्थ नहीं रखता है। अतः भूख, प्यास, काम पारस्परिक सम्बन्ध आदि जितनी सामाजिक आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति पुरुषार्थ-व्यवस्था में सुनिश्चित की गई हैं। धर्म के नियन्त्रण में अर्थ और काम की तृप्ति करते हुए मोक्ष की ओर अग्रसर होने के लिए पुरुषार्थ की व्यवस्था की गई है। पुरुषार्थ-व्यवस्था में समाज को लेते हुए मोक्ष को

केन्द्रबिन्दु माना गया है। समाज के सम्बन्धों, जिसमें अर्थ और काम की आवश्यकताएँ समाहित हैं, को पुरुषार्थ से अलग नहीं रखा गया है।

पुरुषार्थ व्यवस्था का सम्बन्ध आश्रम व्यवस्था के साथ है। दोनों का अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुरुषार्थ का कार्य-क्षेत्र आश्रम है। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य धर्म और अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए ज्ञान प्राप्त करता है और गृहस्थ आश्रम में अर्थ और काम पुरुषार्थ की तृप्ति के लिए साधना करता है परन्तु धर्म को छेड़कर नहीं। यहाँ भी धर्म का नियन्त्रण अर्थ और काम पर रहना आवश्यक माना गया है। इसी प्रकार वानप्रस्थ तथा संन्यास 'मोक्ष' पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए ही है। वानप्रस्थ में त्याग के साथ कर्म करता हुआ, मोक्ष की ओर अग्रसर होता है, और संन्यास में पूर्णतः त्याग, तपस्या तथा साधन के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति की जाती है। यद्यपि मोक्ष की प्राप्ति सरल नहीं है, फिर भी संन्यास आश्रम इसके लिए दृढ़ता और सत्यनिष्ठा से प्रयास करने का आश्रम है। हिन्दू संस्कृति का पुनर्जन्म में विश्वास है। अतः एक जन्म का किया गया सत् प्रयास व्यर्थ नहीं जाता। पिछले जन्म के संस्कार अगले जन्म में सफलता प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होते हैं। इसलिए 'मोक्ष' पिछले जन्मों में किए गए सद्कर्मों और सत्प्रयासों का प्रतिफल भी कहा जाता है। अतः पुरुषार्थ तथा आश्रम व्यवस्था अन्तः सम्बन्धित है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यदि चार पुरुषार्थ माने गए हैं। इसे ही चतुर्वर्ग कहा गया है, मनुष्य जन्म किन्हीं उद्देश्य विशेष के लिए, पुरुषार्थ करने के निमित्त मिला है तो मनुष्य को उसमें स्वयं को नियोजित कर अपनी जीवन-यात्रा सफल बनानी चाहिए। अपने-अपने अभिमान चिन्तनलक्ष्य निर्धारण के अनुरूप ही मनुष्य अपना पुरुषार्थ चुनता है। मनुष्य का यह पुरुषार्थ पक्ष व तत्सम्बन्धी मार्गदर्शन ही भारतीय संस्कृति का आधार स्तम्भ है। अब प्रश्न है—क्या है ये पुरुषार्थ चतुष्टय? संस्कृति के ये चार प्रमुख आधार हैं, जिन पर सारा अध्यात्मदर्शन टिका हुआ है। ये चारों ही मानव की जीवन-यात्रा की परमावश्यक, अनिवार्यताएँ हैं। इनके बिना जीवन का प्रगति रथ अपनी यात्रा पूरी नहीं कर पाता। पुरुषार्थ में ईश्वरीय सत्ता के प्रतिनिधि मनुष्य की प्रवृत्ति सुख के लिए होती है। जीवमात्र सुख की ही कामना करता है, वही उसे अभीष्ट लगता है अतः यह सही भी है सुख दो प्रकार के हैं—विषय-सुख ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों से सम्पर्क होने पर जो दुःखमिश्रित अस्थाई सुख प्राप्त हो वह विश्व सुख तथा इनसे थककर स्वयं को शरीर न मानकर सांसारिक विषय-वासनाओं से रहित होकर आत्मिक उल्लास की स्थिति कहलाती है ब्रह्मानन्द आत्मसुख। इस प्रकार व्यक्ति के द्वारा वांछित चाहे गए दो ही मूल प्रयोजन या लक्ष्य है—(1) काम और (2) मोक्ष, इन दोनों ही पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए दो ही साधन हैं (1) अर्थ और (2) धर्म। दो साध्य व दो साधन रूपी जोड़ों को मिला देने से बनता है पुरुषार्थ चतुष्टय—प्रत्येक व्यक्ति की जीवन-यात्रा के वे महत्त्वपूर्ण अंग जिनसे वह लक्ष्य सिद्धि की ओर बढ़ता है। ये चारों

ही मनुष्य जीवन के मुख्य उद्देश्य हैं। कोई मनुष्य अर्थ अर्थात् धन-प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ करते हैं तो कोई काम को अर्थात् सुख को चाहते हैं और कोई इन दोनों के 'धर्म' के प्राप्ति के पश्चात् धर्म व काम तो स्वतः सिद्ध हो जाते है। इन तीनों ही वर्गों का विधिवत् उपार्जन होने पर पुरुष अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' बन्धन मुक्ति को अनायास ही प्राप्त कर लेता है। मानव-जीवन की सफलता इस अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति ही है।

मानव-जीवन का मर्म, मनुष्यत्व की परिभाषा व मानवी पुरुषार्थ के इन चार वर्गों के विस्तार में जाने से पूर्व थोड़ा चिन्तन यह करें कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की युगानुकूल व्याख्या क्या हो सकती है? मानव का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो इसके लिए आज के समय के अनुकूल इन्हें सही अर्थों में कैसे समझा जाए। यहाँ यह चर्चा अधिक लोकोपयोगी व व्यावहारिक अध्यात्म की परिधि में होगी। अब अलग-अलग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पुरुषार्थ के बारे में जानना आवश्यक है।

धर्म-आचरणमूलक, कर्तव्यमूलक, न्यायमूलक, अध्यात्ममूलक अथवा मोक्ष-मूलक अवधारणा है। धर्म का आधार नैतिक नियम और सदाचरण है। इसी आधार पर धर्म सबको बाँधता है—जोड़ता है। इस प्रकार धर्म का अर्थ जीवन की ऐसी विधि से है जो नैतिक आचरण से जुड़ी है। इसीलिए धर्म को आचरण के साथ जोड़ा गया है और यह कहा गया है कि धर्म आचरण की संहिता है और जिसके द्वारा ही व्यक्ति समाज का सदस्य होकर और उससे नियन्त्रित होते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और अपने लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करता है। चाणक्य ने कहा था यदि मनुष्य में धर्म नहीं है तो वह पशु के समान है—'धर्मेणहीना पशुभि समानाः' धर्म मनुष्य की प्रकृति को निर्धारित करने वाली शक्ति है। आदर्श समाज में धर्म, मनुष्य के कर्तव्यों और अधिकारों का सिद्धान्त है। यह नैतिक कार्यों का दर्पण है। यह समाज में लौकिक जीवन के कर्तव्यों का निर्धारण करता है और पारलौकिक जीवन में सुख प्राप्त कराता है। धर्म प्रेय (लौकिक सुख) और श्रेय (पारलौकिक सुख) में समन्वय करता है। कणाद ने इसलिए धर्म की परिभाषा यह कहकर दी है कि 'लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक सुख ही प्राप्ति ही धर्म है। (वैशेषिक सूत्र 1-1-2) सारांश में धर्म का सम्बन्ध मनुष्य की मूल प्रकृति (तत्त्व) से है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के विश्वास, आचरण, व्यवहार, आस्तिकता, पारलौकिकता से है जो मनुष्य के लौकिक (सामाजिक) जीवन को निर्धारित तथा नियन्त्रित करता है और आत्मिक उत्थान करता है।

धर्म का इतिहास मनुष्य का इतिहास है क्योंकि जब से मनुष्य है वह धर्म के साथ संयुक्त है। धर्म मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करता है। धर्म शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 22वें सूक्त के 18वें मन्त्र में इस प्रकार पाया जाता है—

*त्रीणि पदा विचकमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।*
*अतेधर्म्भाणि धारयन।।*

धर्म मूल अर्थ में कर्तव्य, स्वभाव तथा जीवन-मूल्यों को व्यक्त करता है। किसी वस्तु की, आत्मा या अनात्मा की विधायक वृत्ति को धर्म कहते हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म को चार पुरुषार्थों में एक प्रमुख पुरुषार्थ माना गया है। परन्तु कुछ विचारकों के अनुसार धर्म को केवल एक पुरुषार्थ मान लेना उचित नहीं है। धर्म को लेकर पुरुषार्थों के वर्गीकरण में रखना इसलिए उचित नहीं है कि धर्म अन्य पुरुषार्थों में सदा सन्निहित रहने वाला सिद्धान्त है। अर्थ, काम तथा मोक्ष इसी धर्म के विकसित रूप ही हैं। 'धर्म' या 'ऋत्' केवल एक पुरुषार्थ नहीं वरन् सभी पुरुषार्थों की जन्मभूमि है। फिर भी जब धर्म को एक पुरुषार्थ माना ही गया, तो उसे प्रथम पुरुषार्थ का दर्जा दिया गया है। इसका अर्थ है कि धर्म सभी पुरुषार्थों में श्रेष्ठ है। धर्म नैतिक शक्ति का प्रतीक है। नैतिकता और धर्म एक-दूसरे के पूरक हैं धर्म सदाचरण और व्यवहार की संहिता है। यह व्यक्ति में आचरण के लिए तथा निश्चित प्रकार से जीवन जीने के लिए प्रेरणा देता है। धर्म व्यक्तिपरक भी है और समाजपरक भी। धर्म व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण करता है, वास्तविक स्वरूप से परिचय कराता है। धर्म पुरुषार्थों में सर्वप्रथम पुरुषार्थ है। यह अन्य पुरुषार्थों की जन्मभूमि है। अन्य पुरुषार्थ धर्म का संरक्षण प्राप्त करते हैं।

धर्म के दो भेद किए गए हैं—सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म। सामान्य धर्म को मानव-धर्म की संज्ञा दे सकते हैं। यह मनुष्य के मानवता युक्त नैतिक धर्म या नैतिकता से सम्बन्ध रखता है। यह सामान्य रूप से सभी मनुष्यों के लिए होता है। सामान्य रूप से मानव होने के कारण सभी मनुष्यों को सत्य का, दया का, पवित्रता, संयम्, त्याग, क्षमा, अहिंसा, सन्तोष, सरलता, सेवा, ईश्वर-चिन्तन, पूजा, वन्दना, शील, शरणागत की रक्षा आदि का पालन करना सामान्य धर्म है। मनुष्य होने के नाते इनका अनुसरण करना आवश्यक माना गया है। इसे ही सनातन धर्म कहा जा सकता है। विशिष्ट धर्म इन्हें स्वधर्म की भी संज्ञा दी गई है। जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित कुछ नियम और कर्तव्य बताए गए हैं जो समाज और परिवार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। देश और काल के अनुसार अनेक कर्तव्यों का निर्वाह करना आवश्यक है। इन्हें ही विशिष्ट धर्म से अभिहित किया जाता है। जैसे वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, युग धर्म, राज धर्म, स्वधर्म आदि।

धर्म को यदि जीवन-मूल्य या नैतिक मूल्य के अर्थ में लिया जाए तो धर्मानुकूल कर्म किसी विशेष जाति और देश के लिए न होकर प्राणिमात्र के लिए है। जो सबके लिए करणीय है उन्हें सामान्य धर्म की श्रेणी में रखा जाता है। मनु ने धर्म का लक्षण बताते हुए कहा है कि श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा का सन्तोष धर्म के यही चार महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। इस प्रकार मानवता से सम्बन्धित धर्म ही वास्तविक धर्म है। वह व्यक्ति के साथ-ही-साथ समाज का भी विधायक है, इसीलिए कहा गया है कि 'धर्मो धारयति प्रजा'। किन्तु वर्तमान युग में राजनीतिज्ञों द्वारा धर्म एवं रिलीजन

(सम्प्रदाय या मतवाद) को समानार्थक मानकर धर्म को अत्यन्त ही संवेदनशील मुद्दा बना दिया गया है। जबकि दोनों का तात्पर्य एक-दूसरे से बिलकुल ही भिन्न है। रिलीजन के मुख्यतः दो तत्त्व बताए गए हैं, एक दैवी शक्ति की अनुज्ञा और दूसरा है एक मजहबी संगठन में संगठित होने की अभिलाषा। इस प्रकार रिलीजन का स्वरूप रूढ़िग्रस्त होने के कारण विद्वेष, संघर्ष और रक्तपात का कारण बना। धर्म बन्धन कारण है क्योंकि उसका स्वरूप दोनों ही धर्म से भिन्न है। धियते सः धर्मः। व्यक्ति, वस्तु एवं समाज की सत्ता जिस पर आधारित है वह धर्म है। इसीलिए यास्क ने निरूक्त में नैतिक नियमों को ही धर्म कहा है। क्योंकि बिना नैतिक हुए मनुष्यत्व सुरक्षित नहीं रह सकता। भारतीय संस्कृति में धर्म के महत्व का प्रतिपादन करते हुए उसे पुरुषार्थों की श्रेणी में रखा गया है। वह अर्थ और काम का नियामक तथा मोक्ष को प्रदान करने वाला माना गया है।

अर्थ–

पुरुषार्थों में अर्थ का दूसरा स्थान है। भारतीय विद्वानों ने अर्थ की कभी भी उपेक्षा नहीं की है। इसका कारण यह था कि अर्थ को धर्म का साधन माना जाता था। एक संस्कृत के श्लोक में कहा गया है–'धनाद् धर्मम्'। इसका अर्थ यह है कि धन से धर्म की सिद्धि होती है, परन्तु अर्थ का भारतीय विद्वानों ने विशेष अर्थों में प्रयोग किया है। इसका अर्थ भी धर्म शब्द के अर्थ के समान ही बहुत व्यापक है। भारतीय संस्कृति धन को वहीं तक महत्त्व प्रदान करती है, जहाँ तक वह धर्म का साधन रहता है। अर्थ मनुष्य की उन्नति के लिए है। उससे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति करना मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। यदि अर्थ के द्वारा मनुष्य का नैतिक पतन होता है, अर्थात् यदि मनुष्य अर्थ का प्रयोग बुरे कामों में करता है तो वह बिल्कुल बुरा और अनुपयुक्त माना जाएगा। धन मनुष्य की उन्नति के लिए है, उसके पतन के लिए नहीं। इसलिए धन को अन्य पुरुषार्थों का साधन माल लिया गया है।

लौकिक जीवन व्यतीत करने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। अर्थ का तात्पर्य धन-सम्पत्ति भौतिक उपकरण और सुख के साधनों से है। गृहस्थी चलाने के लिए, जीवन-यापन करने के लिए, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। कहा गया है 'बिना धन के धर्म नहीं' होता। या 'भूखे भजन न होहि गोपाला।' शरीर से धर्म की क्रियाएँ सम्पन्न होती है परन्तु शरीर की रक्षा के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। यज्ञ, दान, सेवा, आदि जितनी धार्मिक क्रियाएँ होती हैं, उनके लिए धन-सम्पत्ति की आवश्यकता होती है। अतः धन नहीं तो धर्म नहीं।

भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने अर्थ के महत्व पर प्रकाश डाला है। महाभारत में कहा गया है कि अर्थ उच्चतम धर्म है। धन से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। महाभारत के उद्योग पर्व (72,23,24) में कहा गया है–

*'धनमाहुः परं धर्म धने सर्वप्रतिष्ठितम्।*
*जीवन्ति धनिनो लोके भूता येत्वाना नरा।।''*

जिसके पास धन नहीं है वह मृतक के समान है। अर्थहीन व्यक्ति ग्रीष्म की सूखी सरिता के समान है। महापुरुषों ने अर्थ की उपयोगिता सिद्ध की है। कौटिल्य ने अर्थ को धर्म जैसा ही महत्व प्रदान किया है। नीतिशास्त्र में कहा गया है कि जिसके पास धन है वहीं अच्छे कुल और उच्च स्थिति वाला माना जाता है। वहीं पण्डित, ज्ञानी, गुणज्ञ तथा दर्शनीय भी माना जाता है। यहाँ तक कि सभी गुण कांचन (धन) में ही है–

*यस्यास्ति वितं स नरः कुलीनः।*
*स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः।।*
*स एव वक्ता स च दर्शनीय।*
*सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ति।।*

इससे यह स्पष्ट होता है कि अर्थ ऐसा पुरुषार्थ है जिसकी सिद्धि प्राचीन काल में ही मनुष्य के जीवन में अनिवार्य प्रतीत होती है। मनु ने अर्थ को 'त्रिवर्ग' में सम्मिलित करते हुए कहा है कि कोई 'धर्म' और 'अर्थ' को कोई 'काम' और 'अर्थ' को और कोई केवल 'अर्थ' को ही श्रेयस्कर मानते हैं, किन्तु यथार्थ में धर्म, अर्थ और काम तीनों ही श्रेयस्कर है। (2,224)। यह मनु का समन्वित दृष्टिकोण है।

धर्म का अर्थ पर नियन्त्रण निश्चित रूप से जीवन में अर्थ की महत्ता को प्रदर्शित किया गया है और अर्थ की महत्ता है भी, परन्तु साथ में यह भी निर्देशित किया गया है कि धर्म के विरुद्ध अर्थ का उपार्जन नहीं करना चाहिए। मान्यता यह है कि अन्याय या अधर्म से अर्जित किया हुआ धन दुःख का कारण बनता है। इतना ही नहीं धन में आसक्ति भी मोक्ष-प्राप्ति में बाधक होती है। अतः धर्म का विनाश करने वाला अर्थ निन्दनीय होता है। अधर्म से अर्जित किया धनत्याज्य होता है। मनु ने तो स्पष्ट निर्देश दिया है कि 'धर्म विरुद्ध अर्थ को छोड़ देना चाहिए' अर्थोपार्जन में धर्म की संस्तुति आवश्यक है। धर्म को प्रथम पुरुषार्थ इसीलिए माना गया है कि सभी पुरुषार्थ धर्म के नियन्त्रण में सिद्ध किए जाने चाहिए। धर्म-विरुद्ध अर्थ पाप का कारण होता है।

आज सम्पूर्ण विश्व अर्थ के पीछे बुरी तरह पागल हो रहा है। साधारण मनुष्य ही नहीं बल्कि अपने को पूर्ण त्यागी अथवा जनता के सेवक कहने वाले भी अर्थ के दास देखने में आते हैं। वर्तमान युग में अर्थ की ऐसी मान्यता देखने में आ रही है कि किसी कार्य का यह कहना सत्य ही जान पड़ता है। 'सम्पूर्ण गुण धन में ही समाए हुए हैं।' आज समस्त संसार में जो अशान्ति का वातावरण फैला हुआ है और मनुष्य भले-बुरे का विचार त्याग कर स्वार्थ साधना में लिप्त है उसका कारण यही धन की लालसा है।

हिन्दू संस्कृति के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त कर जब मनुष्य गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है तो उसे सुखमय बनाने के लिए अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि शेष तीन आश्रम इसी गृहस्थ आश्रम के भरोसे रहते हैं और नित्यप्रति पंचयज्ञों का करना भी गृहस्थ का कर्तव्य माना जाता है, इसलिए गृहस्थ को आवश्यक अर्थ की अभिलाषा करना और उसका संग्रह करना बुरा नहीं कहा जा सकता। पर यह धन भी अन्याय अथवा अत्याचार द्वारा उपार्जित न हो, तभी वह समाज के लिए कल्याणकारी होता है।

**काम**

काम का अर्थ कामना युक्त है। काम का उदय मन में होता है। इसीलिए काम को 'मनसिज' भी कहते हैं। काम के मुख्यतः दो भेद हैं। एक वासनाजन्य काम, दूसरा भगवत् प्रेम। वासनाजन्य काम की पूर्ति विवाहित जीवन में होती है और भागवत् प्रेम की पूर्ति ईश्वरोपासना में। पुरुष में पुरुषत्त्व होता है और नारी में नारित्व। इन्हीं के द्वारा सृष्टि को स्थिर रखने के कार्य में वे योग दे सकते हैं। पर उनका यह कार्य तभी तक धर्मानुकूल माना जाएगा जब तक यह मर्यादा के भीतर हो। असंयमित 'काम' को व्यभिचार की संज्ञा दी जाती है। इस बात का ध्यान स्त्री-पुरुष दोनों को ही रखना आवश्यक है। वे जितने ही संयम और आत्मिक सहयोग की भावना में गृहस्थ जीवन का निर्वाह करेंगे उतने ही अनुपात में दाम्पत्य-प्रेम का आनन्द प्राप्त कर सकेंगे। गृहस्थ जीवन का सुचारु रूप से निर्वाह करने से ही मनुष्य भगवद् भक्ति की ओर अग्रसर हो सकता है और एक समय ऐसा आता है कि वह घर के बन्धन को त्यागकर ईश्वर-प्राप्ति में ही संलग्न हो जाता है। आचार्य वात्स्यायन का कथन है कि आत्मा से संयुक्त मन से अधिष्ठित, श्रोत्र, चक्ष, त्वक्, जिह्वा, प्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध आदि अपने-अपने विषयों में सम्पृक्त होने पर मन के द्वारा आत्मा को जो सुखद अनुभूति होती है, उसी का नाम काम है, उसी को आनन्द कहा गया है। प्रवृत्ति प्रधान होने पर यह काम अविद्या, अज्ञान, माया, आकर्षण का मूल होने से सृष्टि का बीज है और निवृत्ति होने से यही काम, ज्ञान विद्या-विवेक का हेतु भी है। वेद में यहीं काम विधा विवेक का हेतु भी है। वेद और पुराणों में काम को आदि देव कहा गया है। सभी प्राणी दुःख को दूर करने और सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं और सुख भी ऐसा जिसका कभी नाश न हो। किन्तु दुःख का अत्यन्त अभाव किस प्रकार हो यह एक बड़ी जटिल समस्या है। कारण दुःख का अत्यन्ताभाव किसी सांसारिक वस्तु या सफलता से नहीं हो सकता। काम जीवन की प्राण शक्ति है। भारतीय संस्कृति में काम का धर्मपूर्वक, संयम और मर्यादा में बाँधकर रखा गया है। काम के भोग पक्ष को मर्यादा, प्राकृतिक और सामाजिक नियमों व बन्धनों से भोगने की व्यवस्था दी गई है।

धर्म अर्थ और काम इन तीनों सीढ़ियों पर सफलतापूर्वक आरोहण करने वाले व्यक्ति को सहज ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। उसका जीवन यशस्वी, प्रेरक एवं सार्थक हो जाता है।

मनुष्य जब तक अपने संस्कारों से बँधा है, मुक्ति की बात उसके लिए अर्थशून्य है। आज हम जिस माहौल में जी रहे हैं, राष्ट्र की हर इकाई स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए संघर्षरत है, क्योंकि कोई भी इन्सान दूसरे की वैसाखियों से चलकर मंजिल तक नहीं पहुँचना चाहता है। वह स्वयं पैरों की बेड़ियाँ खोलकर अपने-आप अपना मार्ग दर्शन करना चाहता है।

हमारे इन चार पुरुषार्थों के इर्द-गिर्द ही हमारा जीवन घूमता है। कोई अपने स्वभाव या धर्म के अनुसार सुख प्राप्त करता है तो कोई अर्थ संचय के माध्यम से सुख की प्राप्ति करता है तो कोई अपने समस्त कामनाओं की पूर्ति को ही सुख मानता है तो कोई मोक्ष के लिए किए जाने वाले को ही सुख मानता है। प्रथम तीन पुरुषार्थ समस्त विश्व में एक समान ही है। चौथा पुरुषार्थ-मोक्ष का चिन्तन केवल भारतीय ही करते हैं भारतीयों में भी जो हिन्दू जीवन-पद्धति को अपनाए हुए हैं वे ही मोक्ष की अवधारणा को मानते हैं शेष दुनिया जन्नत का स्वर्ग को ही मानती है। भारत में इतने चिन्तक हुए और सभी ने मोक्ष की अवधारणा को ही सत्य कहा। इसलिए भारत का प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष में ही सुख ही तलाश करने लगा। हालात यहाँ तक हो गई कि उसके लिए प्रत्येक कर्तव्य गौण हो गया, बस मोक्ष-प्राप्ति ही मूल कार्य हो गया। भगवान महावीर और भगवान बुद्ध के काल में सम्पूर्ण भारतीय जनमानस अपना सारा राष्ट्रीय कर्तव्य भूलकर केवल मोक्ष-प्राप्ति में ही अन्तिम सुख ढूँढ़ने लगा परिणाम स्वरूप भारत का यूनानियों पर आक्रमण हुआ।

जब सिकन्दर भारत में आया तब आचार्य चाणक्य ने कहा कि हमें स्थाई सुख तभी मिलेगा जब हमारा राष्ट्र सुरक्षित हो और उन्होंने राष्ट्र-सेवा को परम कर्तव्य बताया। इसलिए एक वर्ग ने इन चार पुरुषार्थों के साथ राष्ट्र-भक्ति को भी पंचम पुरुषार्थ के रूप में माना। इसलिए आज हम भारत के मनुष्यों का वर्गीकरण करें तो पाएँगे कि हम पाँच प्रकार के पुरुषार्थ करते हैं और हमारी मानसिकता इन्हीं में विभक्त है।

इन सब से अलग एक वर्ग आचार्य चाणक्य के बाद निर्मित हुआ है और वह है राष्ट्र भक्त वर्ग। वे राष्ट्र-भक्त वर्ग। ये राष्ट्र की सुरक्षा को ही सबसे बड़ा सुख का पुरुषार्थ मानते हैं। इसलिए अपने-अपने समाज के लिए एक सुरक्षित राष्ट्र हो इस हेतु प्रयासरत रहते हैं विवेकानन्द ने भी कहा था कि हमें पचास वर्ष के लिए सारे ही देवी-देवताओं को विस्मृत कर देना चाहिए और केवल भारत को ही भारत माता मानकर उसकी पूजा करनी चाहिए। श्री राम और श्री कृष्ण का जीवन देखिए, उनके जीवन का कृतित्व समझिए। उन्होंने राष्ट्र सुरक्षा को ही सर्वोपरि माना और आततायियों का संहार ही उनका लक्ष्य रहा। रामायण और महाभारत काल इसी बात के साक्षी हैं कि सृष्टि पर श्रेष्ठ विचार पनपने चाहिए और निकृष्ट विचारों का नाश होना चाहिए। ना

राम और ना ही कृष्ण ने कभी किसी कर्मकाण्ड या पूजा-पद्धति को स्थापित किया, बस वे राष्ट्र की सुरक्षा के लिए ही संकल्पित रहें। लेकिन हम राम और कृष्ण के अनुयायी केवल पूजा को ही अपना धर्म मान बैठे हैं और इसी में सुख की प्राप्ति करते हैं। इसलिए आज पुरुषार्थ की जब चर्चा करते हैं तब हमें राष्ट्र सुरक्षा के लिए किए गए कार्यों या पुरुषार्थ को भी अहमियत देनी होगी और चार पुरुषार्थ के स्थान पर पाँच पुरुषार्थ को मान्यता देनी होगी। तभी हम वास्तविक रूप में सुख प्राप्ति कर सकेंगे।

पुरुषार्थ ही हमारी स्वतन्त्रता और सभ्यता की रक्षा करने के लिए दृढ़ दुर्ग है जिसे कोई भी बेध भी नहीं सकता। हमें अपनी शक्ति पर भरोसा रखकर, पुरुषार्थ के बल जीवन-संघर्ष में आगे बढ़ना होगा। यदि हमें यह करना है, स्वतन्त्र रहना है, जीवित रहना है तो एक ही रास्ता है पुरुषार्थ की उपासना का। पुरुषार्थ ही हमारे जीवन का मूल मन्त्र होना चाहिए।

वर्तमान युग वैज्ञानिक उपलब्धियों का युग है। आज चारों ओर वैज्ञानिक विकास की धूम मची हुई है। हम देखते हैं कि आज के इस माहौल में नैतिकता के सारे मापदण्ड शिथिल पड़ गए हैं। नैतिकता की कमी होने के कारण वर्तमान पीढ़ी दिग्भ्रमित होकर कई प्रकार की समस्याओं का शिकार हो रही है। जिससे समाज में हिंसा, भ्रष्टाचार, चोरी आदि बढ़ रही है। वेदों और उपनिषदों में प्रतिपादित नैतिक सिद्धान्त मनुष्य को सन्तुलित और व्यावहारिक जीवन प्रदान करते हैं। इन नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति अपने समाज तथा प्राणी मात्र के प्रति अपने मूल नैतिक कर्तव्यों का निर्धारण कर सकता है। पुरुषार्थ मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए अत्यधिक आवश्यक है। प्रथम पुरुषार्थ के रूप में धर्म मानव जीवन के नैतिक पक्ष को सुदृढ़ बनाता है। 'पुरुषार्थ' के द्वारा व्यक्ति नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक उत्तरदायित्वों को कुशलतापूर्वक निभाता है।

पुरुषार्थ हिन्दू विचारधारा की अपनी व्यवस्था है जो विश्व की अन्य संस्कृतियों में सर्वथा अप्राप्य है। पाश्चात्य संस्कृति जहाँ भौतिकता को सर्वोच्च प्राथमिकता देती है वहाँ भारतीय संस्कृति में भौतिकता को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी आध्यात्मिकता को प्राथमिकता दी गई है।

पुरुषार्थ के माध्यम से भारतीय मनीषा ने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति आसक्ति एवं त्याग के बीच सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। यहाँ काम तथा अर्थ साधन है जबकि धर्म एवं मोक्ष साध्य स्वरूप है। त्रिवर्ग में तीनों पुरुषार्थों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसमें धर्म की स्थिति सर्वोच्च है। अर्थ तथा काम का उचित उपयोग धर्म के माध्यम से ही सम्भव है। मनुस्मृति में तीनों के समन्वय पर बल दिया गया है।

तदनुसार ''कुछ कहते हैं कि मनुष्य का लाभ धर्म तथा अर्थ में है, कुछ के अनुसार यह काम तथा अर्थ में है, जबकि कुछ लोग केवल धर्म में ही मनुष्य का लाभ देखते हैं। किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि मनुष्य का कल्याण तीनों पुरुषार्थों के समुचित समन्वय में ही निहित है।''

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट का विचार है कि लौकिक दृष्टि से विचार करने पर मोक्ष ही एकमात्र अभीष्ट रह जाता है तथा अन्य पुरुषार्थ इसकी प्राप्ति में सहायक बन जाते हैं।

पुरुषार्थ का सम्बन्ध मनुष्य तथा समाज दोनों से है। वे मनुष्य तथा समाज के बीच के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए उन्हें न्यायसंगत बनाते हैं। दोनों के उचित सम्बन्धों को उजागर करते हैं ताकि मनुष्य उनसे बच सकें।

पुरुषार्थ लोगों को समाज में क्रिया करने का मार्गदर्शन करता है। मनुष्य का उद्देश्य संसार में सुखी जीवन व्यतीत करना है। यह सब सभी सम्भव है जब उसकी इच्छा एवं आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। एक विवेकशील प्राणी का लक्ष्य होता है परमात्मा से मिलन। इसके लिए वह जिन उपायों को अपनाता है वे ही पुरुषार्थ है। ●

## सन्दर्भ


1. पुराणों में पुरुषार्थ चतुष्टय, डॉ. मंजूलता शर्मा, प्रकाशक सस्ता साहित्य मण्डल, पृ.72
2. मनोरंजन पुस्तक माला–45, पुरुषार्थ, लेखक जगन्मोहन वर्मा, प्रकाशक काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ.-63
3. प्रारब्ध और पुरुषार्थ, गुरुदत्त, प्रकाशक–भारतीय साहित्य संग्रह, पृ.-103
4. भारतीय दर्शन, प्रो. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ.-93
5. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.-93
6. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, प्रो. संगमलाल पाण्डेय, सेण्ट्रल बुक डिपो।
7. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, पृ.-103
8. भारतीय संस्कृति के आधार–श्री अरविन्द, श्री अरविन्द आश्रम, पण्डिचेरी, पृ.-72
9. भारतीय दार्शनिक समस्याएँ–डॉ. नन्दकिशोर शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ.-57
10. भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग एक) एस.एन. दासगुप्ता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ.-63
11. दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांस्कृत्यायन, किताब महल।
12. दर्शन–डॉ. देवराज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
13. दर्शन विवेचना–डॉ. वेद प्रकाश वर्मा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
14. भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा, प्रो. राममूर्ति शर्मा, मणि द्वीप, दिल्ली।
15. भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग एक) एस.एन. दासगुप्ता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।

# यात्रा वृत्तान्त की यात्रा

लोकेश कुमार*

आदिम युग में मनुष्य घुमक्कड़ था और वह तमाम चिन्ताओं से मुक्त रहकर हमेशा विचरण करता था। मनुष्य अपनी भूख-प्यास मिटाने और जीवनगत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु हमेशा यात्रा करता रहा है, लेकिन धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ उसकी यायावरी वृत्ति भी बढ़ने लगी और अपनी जरूरत के अनुसार देश-विदेश की यात्रा करने लगा। घुमक्कड़ों में से आर्यों, शकों, हूणों ने अपने अमानवीय कृत्यों द्वारा मानवता को प्रशस्त किया, किन्तु मंगोल घुमक्कड़ों ने पश्चिम में बारूद, तोप, कागज, छापाखाना आदि चीजों का आविष्कार किया। घुमक्कड़ी धर्म ने ही यहूदियों को व्यापार-कुशल, उद्योग-निष्णात और विज्ञान, दर्शन, साहित्य, संगीत सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ने का मौका दिया। भारत की उन्नति में कई कुपमण्डूकताओं का बाधक होना भी यायावरों की कमी की ओर इशारा करता है। भारत में कुछ लोग पुरानी परम्पराओं और पुरातन विचारों से प्रभावित होकर समुद्र पार की यात्रा का विरोध करते रहे हैं। इन पुरातन विचारों से मुक्त होकर जिन यायावरों ने दूसरे देशों की यात्राएँ कीं, वे निश्चय ही भारत को उत्कृष्ट बनाने वाले कर्मठ यात्री रहे हैं। घुमक्कड़ी के लिए मनुष्य को चिन्तामुक्त होना जरूरी है और साथ ही साहस की भी जरूरत है, तभी एक सफल यायावर बना जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन ने घुमक्कड़ी को धर्म का दर्जा दिया है। उन्होंने लिखा है—''मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु घुमक्कड़ी है। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज के लिए कोई हितकारी नहीं हो सकता। मनुष्य स्थावर वृक्ष नहीं है, वह जंगम प्राणी है, चलना मनुष्य का धर्म है, जिसने इसे छोड़ा वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है।''[1]

ज्ञान-विज्ञान की खोज के उद्देश्य से जब साहित्यकार यात्रा करके अपने यात्रानुभवों को शब्दशुद्ध करने लगा तब यात्रा-वृत्तान्त का उदय हुआ। हिन्दी यात्रा-वृत्तान्त के सर्वप्रथम हस्तलिखित ग्रन्थ गोस्वामी विट्ठलनाथ द्वारा लिखित 'वन

* शोधार्थी (पी-एच.डी.), हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, lokeshkumar.hcu@gmail.com, मो. 9666285172

यात्रा' को माना जाता है। चौवालीस पृष्ठों के इस ग्रन्थ में विट्ठल जी ने व्रजमण्डल के विविध दृश्यों को अत्यन्त भक्ति-भाव से चित्रित किया है 'वनयात्रा' नाम से दो अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। उनमें प्रथम के रचनाकाल एवं रचयिता के सम्बन्ध में प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। पैंसठ पृष्ठों की यह रचना अपूर्ण है। 'वनयात्रा' नाम से जो दूसरी कृति है, उसकी रचनाकार जीमन महाराज की माँ हैं। इसमें भी गोकुल, मथुरा, गोवर्धन, वृन्दावन आदि स्थानों के प्राकृतिक वर्णन को प्रस्तुत किया गया है। 'ब्रजपरिक्रमा' 'सेठ पद्मसिंह की यात्रा', 'बात दूर देश की', 'ब्रज चौरासी कोस वनयात्रा', 'बद्रीनारायण सुगम-यात्रा' आदि अनेक हस्तलिखित कृतियों का उल्लेख है। इन ग्रन्थों में वर्णनात्मकता के साथ-साथ भावात्मकता को भी स्थान दिया गया है। इन यात्रापरक कृतियों में गद्य की अपेक्षा पद्य की प्रधानता है और पद्य में भक्ति भावना को प्रमुखता दी गई है।

यात्रा-वृत्तान्त को एक विधा के रूप में स्वीकृति आधुनिक युग में मिली है। इसे पाश्चात्य सम्पर्क को परिणाम माना जाता है। भारतेन्दु काल में लिखे गए यात्रा-वृत्तान्त, यात्रा-क्रम में लिखे गए स्थूल वृत्त मात्र होते थे। भारतेन्दु युगीन यात्रा-वृत्तान्तों में भावात्मक स्थलों पर भाषा की प्रवाहमयता में लोकोक्तियाँ, अलंकार आदि सहजता से प्रवेश कर गए हैं। इसके बावजूद हिन्दी साहित्य में यात्रा-वृत्तान्त का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से मानना ज्यादा उपयुक्त होगा। उनके सम्पादन में निकलने वाली पत्रिकाओं में 'सरयूपार की यात्रा', 'मेहदावल की यात्रा', 'लखनऊ की यात्रा', 'जनकपुर की यात्रा', 'वैद्यनाथ की यात्रा' आदि यात्रा-वृत्तान्त प्रकाशित हुए हैं। इन यात्रा-वृत्तान्तों की भाषा व्यंग्यपूर्ण और शैली बड़ी रोचक एवं सजीव है। आलोचकों ने इन वृत्तान्तों को निबन्ध विधा के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लिया है। उस समय यात्रा-वृत्तान्त के रूप में गद्य की स्वतन्त्र विधा मान्य नहीं थी। भारतेन्दु के बाद यात्रा-वृत्तान्तों की एक लम्बी परम्परा दिखाई पड़ती है। इन रचनाओं में श्रीमती हरदेवी कृत 'लन्दन यात्रा' (जिसे यात्रा-वृत्तान्त का सर्वप्रथम मुद्रित ग्रन्थ माना जाता है।) बालकृष्ण भट्ट कृत 'कातिकी का नहान', 'विलायत की यात्रा' एवं प्रताप नारायण मिश्र कृत 'विलायत यात्रा', पण्डित दामोदर शास्त्री कृत 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा', देवी प्रसाद खत्री कृत 'रामेश्वर यात्रा', 'बद्रिकाश्रम यात्रा', स्वामी सत्यदेव परिव्राजक कृत 'मेरी कैलाश यात्रा', 'मेरी जर्मन यात्रा', शिव प्रसाद गुप्त कृत 'पृथ्वी प्रदक्षिणा', कन्हैया लाल मिश्र कृत 'हमारी जापान यात्रा' और रामनारायण कृत 'यूरोप यात्रा में छः मास' आदि महत्त्वपूर्ण यात्रा-वृत्तान्त हैं।

सन् 1936-37 का प्रगतिवादी आन्दोलन, साम्यवादी विचारधारा के प्रति बढ़ता आकर्षण, द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति आदि परिस्थितियों ने भारत के यात्रा-वृत्तान्त को नई जमीन दी। सांस्कृतिक सम्बन्धों के आदान-प्रदान ने एक-दूसरे देशों को समझने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस कालखण्ड में यात्रा संसाधनों की प्रचुरता से

यात्राओं की संख्या में वृद्धि हुई और यात्रा-वृत्तान्तों में भी इजाफा हुआ। हिन्दी यात्रा-वृत्तान्त के सशक्त हस्ताक्षर प्रसिद्ध यायावर राहुल सांकृत्यायन ने अमूल्य कृतियों का सृजन किया है। सांकृत्यायन जी ने देश-विदेश की कई बार यात्राएँ की हैं और उनके आधार पर अनेक यात्रा-वृत्तान्त का भी सृजन किया है। उन्होंने तिब्बत से अपार बौद्ध ग्रन्थों और ज्ञान-विज्ञान की अप्राप्य पाण्डुलिपियाँ भी खोजी हैं। तिब्बत यात्राओं का उनका उद्देश्य ही प्राचीन ग्रन्थों की खोज रहा है। उसी प्रकार अध्यापन के लिए वे रूस गए, तब भी उनकी दृष्टि रचनाओं के लिए सामग्री संकलन में लगी थी। वामपन्थ के समर्थक होने के बावजूद सांकृत्यायन जी भारतीयता के प्रति गहरी आस्था रखने वाले थे। अपने देश की मिट्टी के प्रति उनके मन में बेहद सम्मान था। हिन्दी यात्रा-वृत्तान्त के विकास में राहुल सांकृत्यायन का योगदान अतुलनीय है। सांकृत्यायन जी के यात्रा-वृत्तान्तों की शैली इतिवृत्ति-प्रधान है। इसके बावजूद गुणवत्ता और परिणाम की दृष्टि से वे यात्रा-वृत्तान्त के बहुत बड़े लेखक हैं। सांकृत्यायन जी कृत महत्त्वपूर्ण यात्रा-वृत्तान्त 'मेरी लद्दाख यात्रा', 'मेरी तिब्बत यात्रा', 'रूस में पच्चीस मास', 'एशिया के दुर्गम भूखण्डों में' आदि हैं। राहुल सांकृत्यायन के बाद यात्रा-वृत्तान्तकार के रूप में बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि-कथाकार सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। 'अज्ञेय' अपने यात्रा-वृत्तान्त को यात्रा-संस्मरण कहना पसन्द करते थे। इससे उनका आशय यात्रा-वृत्तान्तों में संस्मरण का समावेश कर देना था। उनका मानना था कि यात्राएँ न केवल बाहर की जाती हैं बल्कि ये हमारे अन्दर की ओर भी की जाती हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद' (1953) और 'एक बूँद सहसा उछली' (1960) उनके द्वारा लिखित यात्रा-वृत्तान्त की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद' में उनके भारत भ्रमण का वर्णन है और 'एक बूँद सहसा उछली' में विदेश की यात्राओं को शब्दबद्ध किया गया है।

यात्रा मनोरंजक होते हुए भी कष्टकारी होती है, क्योंकि वहाँ हमें तमाम अनभिज्ञ चीजों और असुविधा से गुजरना पड़ता है। यात्री जब किसी नए स्थान पर जाता है तब निश्चित रूप से एक ऐसी दुनिया को समक्ष पाता है जो भू-दृश्य या भौतिक परिवेश, संस्कृति, भाषा, तथा व्यवहार में भिन्न होती है। इसके बावजूद यात्रा-वृत्तान्त के लिए विषयवस्तु के चयन में पर्याप्त स्वतन्त्रता है। लेकिन यात्री अपने साहित्य में संवेदनशील होकर भी तटस्थ रहता है, ऐसा नहीं होने पर यात्रा के स्थान पर यात्री के अधिक प्रधान हो उठने की सम्भावना होती है। यात्रा-वृत्तान्त सामान्य-वर्णन शैली के अतिरिक्त डायरी, पत्र और रिपोर्ताज शैली में भी लिखा जाता है। इसलिए इसमें निबन्ध, कथा, संस्मरण, रेखाचित्र, आदि कई गद्य-विधाओं का आनन्द एक साथ मिलता है। यात्रा-वृत्तान्त का अन्य विधाओं के साथ अन्तर्सम्बन्ध को दिखाते हुए डॉ. रघुवंश ने लिखा है—''समग्र जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले यात्रा-वृत्तान्त में महाकाव्य और उपन्यास का विराट तत्त्व, कहानी का आकर्षण, गीतिकाव्य की मोहक

भावशीलता, संस्मरणों की आत्मीयता, निबन्धों की मुक्ति सब एक साथ मिल जाती है।''[2]

यात्रा-वृत्तान्त और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृति में इतिहास, धर्म, कला, समाज आदि समाविष्ट हैं तो यात्रा-वृत्तान्त इन सभी की कलात्मक अभिव्यक्ति है। यात्रा-वृत्तान्त मात्र भूमि नापने की क्रिया, आँखों देखा हाल, रिपोर्ट या रिपोर्ताज भी नहीं है, बल्कि वह गहरी संवेदना या रागात्मक सम्बन्धों की प्रेरणा से लिखा जाता है। उसमें भी राग, प्रेम, मानवता, प्रकृति, संस्कृति, समाज के प्रति सरोकार आदि उतना ही महत्त्व रखते हैं, जितना अन्य साहित्य विधाओं में। इसलिए वह कथा, उपन्यास, कविता, समीक्षा, पत्र, डायरी आदि विधाओं की शैली में लिखा जा सकता है, बशर्ते कि उसका यथार्थ बराबर बना रहे। यह स्पष्ट है कि जो यात्रा-वृत्तान्त परिवेश को या अनुभूतियों को जितनी गहरी संवेदना या रागात्मक सम्बन्धों की प्रेरणा से अभिव्यक्ति देगा वह उतना ही उत्कृष्ट होगा। ऐसी संरचना यायावर अपनी कलात्मक एवं सृजनात्मक संवेदनशीलता के द्वारा ही कर सकता है। विभिन्न यान्त्रिक अनुभवों से यात्रावृत्त के लिए चुने हुए केन्द्रों से सम्बद्ध अनुभवों का चयन, सम्बन्धित घटनाओं का अनुक्रम, उत्सुकता बनाए रखने के लिए यात्रावृत्त की संरचना में घटनाओं को काटना, छाँटना, तोड़ना, जोड़ना, मोड़ लाना आदि रचनात्मक क्रियाएँ उपयोगी हो सकती हैं। विषय को प्रभावी बनाने के लिए उपयुक्त सामग्रियों का चयन एवं संयोजन कर, उनमें सामाजिक, प्रश्नोत्तरी, खोज-समाधान या कलात्मक सम्बन्ध बनाया, विषय के विकास के अनुरूप वाक्यों में लय स्थापित करना भी यात्रा-वृत्तान्त को साहित्यिक बनाता है। इस समस्त क्रियाओं का उद्देश्य यात्रा-वृत्तान्त को पठनीय, रोचक, रंजक, स्मरणीय, अनुभव-समृद्धिकारी, अनुभूति-संवाहक जानकारी, ज्ञान तथा विवेक-दृष्टि देने वाला होता है। इस उद्देश्य हेतु साहित्यिक अलंकारों का समुचित उपयोग भी वांछनीय है।

कुछ दशकों से हिन्दी यात्रा-वृत्तान्त समृद्ध हुआ है। विदेशों से हमारा सम्पर्क बढ़ा है, हमारे साहित्यकार चीन, जापान, रूस, अमेरिका, अफ्रीका तथा यूरोपीय देशों के साहित्य और कला के क्षेत्र में रुचि दिखने लगे हैं। साहित्यकारों को विदेश भ्रमण की सुविधाएँ भी अधिक मिलने लगी हैं। वे देश-विदेश की यात्रा करने लगे हैं और अपने यात्रानुभवों को शब्दबद्ध करके यात्रा-वृत्तान्त के रूप में पाठक के सामने ला रहे हैं। इन यात्रा-वृत्तान्तों में कृष्णनाथ कृत 'स्फीति में बारिश', 'लद्दाख में राग-विराग', अमृतलाल वेगड़ कृत 'सौन्दर्य की नदी नर्मदा', 'तीरे-तीरे नर्मदा', निर्मल वर्मा कृत 'चीड़ों पर चाँदगी', मोहन राकेश कृत 'आखिरी चट्टान तक', मनोहर श्याम जोशी कृत 'क्या हाल हैं चीन के', विश्वनाथ प्रसाद तिवारी कृत 'आत्मा की धरती', रमेशचन्द्र शाह कृत 'एक लम्बी छाँह', कृष्णदत्त पालीवाल कृत 'जापान में कुछ दिन', प्रयाग शुक्ल कृत 'सम पर सूर्यास्त', 'कृष्णा सोबती कृत 'बुद्ध का कमण्डल लद्दाख', नासिरा

शर्मा कृत 'जहाँ फव्वारे लहू रोते हैं', कमलेश्वर कृत 'आँखों देखा पाकिस्तान', 'पश्चिमी जर्मनी पर उड़ती नजर', अजित कुमार कृत 'सफरी झोले में', पंकज बिष्ट कृत 'खरामा-खरामा, असगर वजाहत कृत 'रास्ते की तलाश में', ओम थानवी कृत 'मुअनजोदड़ो', अनिल यादव कृत 'वह भी कोई देश है महाराज', गरिमा श्रीवास्तव कृत 'देह ही देश' आदि महत्त्वपूर्ण यात्रा-वृत्तान्त हैं। इनके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में भी लगातार यात्रा-वृत्तान्त प्रकाशित हो रहे हैं। ●

## सन्दर्भ


1. राहुल सांकृत्यायन : घुमक्कड़शास्त्र, किताब महल, इलाहाबाद, 2004, पृ.-811
2. डॉ. रघुवंश : हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1 और भाग-2, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, तृतीय सं. 1985, पृ.-610[2]
3. राहुल सांकृत्यायन : एशिया के दुर्गम भूखण्डों में, जगतराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 2018
4. सचिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' : एक बूँद सहसा उछली, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012
5. सचिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' : अरे यायावर रहेगा याद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
6. विश्वमोहन तिवारी : हिन्दी का यात्रा-साहित्य, आलेख प्रकाशन, दिल्ली, 2008।

# ग्राम-स्वराज की प्रासंगिकता

अरविन्द प्रसाद गोंड़

महात्मा गाँधी एक राज नेता के साथ-साथ समाज-सुधारक एवं भविष्य-दृष्टा थे उनका उद्देश्य केवल भारत को एक स्वतन्त्र कराना ही नहीं था अपितु वास्तविक अर्थों में स्वतन्त्र भारत में ग्राम-स्वराज की स्थापना करना था जिसमें लोगों को राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वावलम्बन और सामाजिक समानता भी प्राप्त हो। भारत गाँवों का देश है। यहाँ की 70 प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती है, नगरीय समाज का विकास ग्रामीण जनता के आर्थिक शोषण पर आधारित था। इस शोषण से ग्रामीण जनता को मुक्त कराकर उनको आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाना ही उनका लक्ष्य था ऐसी मान्यता है कि प्राचीन भारत में ग्राम आत्मनिर्भर होते थे। उनकी अपनी व्यवस्था थी ग्राम सभाओं या पंचायतों के माध्यम से वे मिल-जुलकर परस्पर सहमति से गाँव के विकास एवं जनहित सम्बन्धी कार्य करते थे एवं साथ-ही-साथ वे न्याय-सम्बन्धी निर्णय भी लेते थे। राज्य सम्बन्धित अधिकारी तथा कर्मचारी केवल राजस्व वसूली एवं शान्ति व्यवस्था को बनाए रखने तक ही अपने को सीमित रखते थे। संक्षेप में ग्राम समृद्ध व आत्मनिर्भर होते थे। और गाँव की जनता में पारस्परिक सौहार्द्र होता था। जिसके बल पर वे आकस्मिक विपत्तियों को सामना करने में समक्ष होते थे। किन्तु कालान्तर में राजनैतिक व प्रसाशनिक परिवर्तनों के कारण बाह्य सत्ता का नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप ग्रामीण क्षेत्र में बढ़ता गया और उसी अनुपात में गाँव की सभा, समितियों अथवा पंचायतों के अधिकार कम होते गए। ग्राम की समृद्धि एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता घटती गई। गाँधी जी ऐसे स्वतन्त्र भारत की कल्पना करते हैं, जिसमें गाँवों में वास्तविक अर्थों में स्वराज हो, हर एक गाँव आत्मनिर्भर हो और गाँव की जनता स्वयं अपनी उन्नति के लिए सामूहिक रूप से मिलकर निर्णय ले सके। इसके लिए उन्होंनेजो प्रारूप प्रस्तुत किया उसे गाँधी जी की ग्राम-स्वराज की अवधारणा के नाम से जाना जाता है। गाँधी के निकट सहयोगी जे.सी. कुमारप्पा ने एक अवधारणा नाम से दी,

* गाँधी एवं शान्ति अध्ययन विभाग, महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001, मो.- 914035441

जिसे गाँधी जी ने देहाती स्वराज के लिए एक अनिवार्य ढाँचा माना था कुमारप्पा की दो पुस्तकों 'व्हाई दी विलेज मूवमेण्ट : ए प्ली फार विलेज सेण्टर्ड इकनामिक आर्डर' : तथा केपिटलिज्म, एण्ड मुट्ठी विलेलिज्म में ग्राम स्वराज का ढाँचा प्रस्तुत किया गया।

स्वराज का अर्थ—स्वराज का अर्थ है आत्म-शासन और आत्म-संयम। गाँधी का मानना था कि सच्चा स्वराज लोगों द्वारा सत्ता-प्राप्ति से नहीं आएगा बल्कि सत्ता का दुरुपयोग किए जाने की स्थिति में, उसका प्रतिरोध करने की जनता की सामर्थ्य विकसित होने से आएगा। दूसरे शब्दों में स्वराज जनता को सत्ता का नियम तथा नियन्त्रण करने की अपनी क्षमता का विकास करने की शिक्षा देने से आएगा। अतः स्वराज का अर्थ है सरकार के नियन्त्रण से मुक्त होने का सतत प्रयास करना, वह सरकार विदेशी हो अथवा राष्ट्रीय। गाँधी जी का मानना था कि 'मेरे सपनों' के स्वराज में जाति (रेस) या धर्म के भेदभाव का कोई स्थान नहीं होगा। उस पर शिक्षितों या धनवानों का एकाधिपत्य नहीं होगा। यह स्वराज सबके लिए अर्थात् अमीर, गरीब, किसान, लूले, लँगड़े, अन्धे और भूख से मरने वाले लाखों-करोड़ों मेहनतकश मजदूर एवं सबके कल्याण के लिए होगा और ऐसे में हिन्दू स्वराज का अर्थ सब लोगों को राज्य न्याय का राज्य है। अतः गाँधी ने स्वराज शब्द का प्रयोग एक ऐसे समाज का वर्णन करने के लिए किया है। जो समाज स्वदेशी की भावना से ओत-प्रोत हो, जिसमें स्वायत्त एवं स्व-अनुशासन का बोध होता है। जिसमें न केवल औपचारिक स्वतन्त्रता बल्कि नैतिक और सांस्कृतिक स्वायत्तता भी शामिल हो जहाँ सामुदायिक चरित्र इतना व्यापक हो कि उसे अपनी सीमा का ज्ञान हो, वह दूसरों से भी विचारों को ग्रहण करता हो तथा अपने विभिन्न मामले अपने मूल्यों एवं परम्पराओं के अनुरूप निपटाता हो। गाँधी जी ने लिखा है कि मेरा स्वराज तो हमारी सभ्यता की आत्मा को अक्षुण्ण रखता है। ग्राम स्वराज की मेरी कल्पना यह है कि यह एक ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र होगा, जो अपनी अहम् जरूरतों के लिए अपने पड़ोसियों पर निर्भर नहीं करेगा, और दूसरों के जरूरतों के लिए दूसरों का सहयोग, अनिवार्य होगा यह परस्पर सहयोग से कार्य लेगा। इस तरह हर एक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर लो। (इसके अलावा) उसके पास इतनी सुरक्षित जमीन होनी चाहिए, जिसमें ढोर चर सकें और गाँव के बड़ों व बच्चों के लिए मनबहलाव के साधन और खेल-कूद के मैदान वगैरह का बन्दोबस्त हो सके। इसके बाद भी जमीन बची तो उसमें एक ऐसी उपयोगी फसलें बोएगा, जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सके, (लेकिन) वह गाँजा, तम्बाकू, अफीम वगैरह की खेती से बचेगा। हर एक गाँव में गाँव की अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा—वाटर वर्क्स होंगे—जिसमें गाँव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिला करेगा। कुओं और तालाबों पर गाँव का पूरा नियन्त्रण

रखकर यह काम किया जा सकता है। बुनियादी तालीम के आखिरी दर्जे तक शिक्षा सबके लिए होगी। जहाँ तक हो सकेगा, गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किए जाएँगे। जात-पाँत और क्रमागत अस्पृश्यता जैसे भेद आज हमारे समाज में पाए जाते, वैसे इस ग्राम-समाज में बिल्कुल नहीं रहेगा। इस तरह ग्राम-स्वराज के कुछ बुनियादी सिद्धान्त हैं जो ग्राम स्वराज के अनिवार्य तत्त्व के रूप में हम देख सकते हैं जिसमें मानव का सर्वोच स्थान इसका ध्येय है लोगों को सुखी बनाना और इसके साथ उनकी बौद्धिक और नैतिक उन्नति भी करना। नैतिक उन्नति से मेरा मतलब यहाँ आध्यात्मिक उन्नति से है यह ध्येय विकेन्द्रीकरण से सध सकता है। केन्द्रीकरण की पद्धति अहिंसक समाज-रचना से भिन्न है। ग्राम स्वराज में गाँधी जी शरीर-श्रम पर ज्यादा ही बल देते हैं। समानता, संरक्षकता, विकेन्द्रीकरण, स्वदेशी, स्वावलम्बन, सहयोग, सत्याग्रह, सब धर्मों की समानता गाँधी जी अपने ग्राम-स्वराज में हर एक धर्म की पूरी और बराबरी की जगह होगी। हम सब एक ही आलीशान पेड़ के पत्ते हैं। इस पेड़ की जड़ हिलाई नहीं जा सकती, क्योंकि वह पाताल तक पहुँची हुई है। जबरदस्त-से-जबरदस्त आँधी भी उसे हिला नहीं सकती है। गाँधी जी ग्राम-स्वराज में पंचायती राज-व्यवस्था में स्वयं अपनी गाँव की धारासभा, न्यायसभा और व्यवस्थापिका सभा भी होगा। जो ग्रामीण स्तर की सारी समस्याओं का आपसी निस्तारण करेगी। गाँधी जी के ग्राम-स्वराज में नई तालीम की भी संकल्पना की गई है। ग्राम स्वराज का राजनीतिक अध्ययन के सन्दर्भ में पंचायती राज व्यवस्था 1950 से 1960 के बीच कई राज्यों द्वारा काननू पारित कर पंचायती राज लागू किया गया। 1992 से 73वें संविधान संशोधन अधिनियम पारित कर पंचायती राज की अवधारणा को मजबूत किया गया और 24 अप्रैल 1993 को 73वें संविधान संशोधन लागू कर पंचायती राज संस्थान को संवैधानिक मान्यता दी गई वहीं महिलाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों हेतु आरक्षण की व्यवस्था की गई है। इससे समाज के सर्वाधिक उपेक्षित भाग को यथोचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है। इस प्रावधान होने से हमारे देश में हर राजनीतिक पार्टियों का चुनावी घोषणा-पत्र में शरीर-श्रम का न्यूनतम मजदूरी तय करने और समाज में समानता स्थापित करने के उद्देश्य से सभी के साथ समान व्यवहार करने के लिए समानता का सिद्धान्त अपनाते हैं। सभी को समान संरक्षण करने की बात तो हमारे भारतीय संविधान में प्रावधान होने के बावजूद हमें साम्प्रदायिक तनाव हमारे देश में देखने को मिल जाते हैं। यह कहीं-न-कहीं गाँधी के ग्राम स्वराज के विभिन्न आयामों के साथ राजनीतिकरण होता है। हमारे देश के राजनीतिक दलों की बात की जाए तो सहयोगात्मक संघवाद भी इसी की देन है, आज के वर्तमान समय में राज्यों को अधिक स्वतन्त्रता दी गई। लेकिन इन स्वतन्त्रता के पीछे कारण यह है कि राज्य अपनी किसी तरह की मनमानी नहीं कर सकते हैं इस

तरह हमें ग्राम-स्वराज पर महात्मा गाँधी के विचार के अनुसार, सभी गाँवों में समुचित स्वास्थ्य, सेवाएँ, हवादार घर तथा खादी के कपड़े उपलब्ध होंगे और इसके अलावा स्वच्छता एवं सफाई का ध्यान रखा जाएगा। गाँवों के सतत विकास के लिए यह सभी कार्य परस्पर सहयोग द्वारा सम्भव है। यदि किसी एक गाँव को इस रूप में विकसित करने के लिए प्रयास किया जाए तो यह लोकतन्त्र में बेहतर परिणाम ला सकता है। सांसद आदर्श ग्राम योजना ग्राम-स्वराज की वर्तमान समय में एक उदाहरण है। हमारे देश में राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक दलों ने ग्राम-स्वराज की संकल्पना को साकार करने की बात सब करते हैं, लेकिन अभी वर्तमान सरकार जो दीनदयाल उपाध्याय ग्राम ज्योति योजना सभी ग्रामीण स्तर के (बीपीएल) परिवारों को बिजली उपलब्ध करा रही हैं। न्यूनतम दरों पर। इसी के साथ सबका साथ सबका विकास का नारा हमारे देश के प्रधानमन्त्री द्वारा दिए गए। भारत निर्माण स्वयंसेवक का गठन किए जा रहे हैं, प्रधानमन्त्री ग्राम सड़क योजना ये सारी योजनाएँ गाँधी जो अपने ग्राम-स्वराज की कल्पना में कर दिए थे उसी को साकार करने का प्रयास हर राजनीतिक दल अपने चुनावी घोषणा-पत्र में शामिल करते हैं।

गाँधी जी के ग्राम स्वराज के मूल्यों का व्यावहारिक जीवन में उपयोग, एवं असके विभिन्न आयामों का वर्तमान भारतीय राजनीति में, प्रयोग करके ग्रामीण क्षेत्रों में विकास-कार्यों का विश्लेषण किया जाए। जिसमें पंचायती राज-व्यवस्था से समाज के हाशिए पर रहे लोगों का विकास किया जाए। मनरेगा जैसे कल्याणकारी योजनाओं का विश्लेषण करके ग्राम स्वराज को और मजबूत बनाना। आज के वर्तमान समय में गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों का ग्रामीण स्तर पर प्रयोग करने की आवश्यकता है। जिससे समाज में भाईचारा आपसी सौहार्द्र बना रहे। इसी सन्दर्भ को लेकर हमारे देश के प्रधानमन्त्री श्री दामोदर दास नरेन्द्र मोदी जी ने, राष्ट्रीय ग्राम स्वराज अभियान की घोषणा प्रधानमन्त्री ने राष्ट्रीय पंचायत दिवस के अवसर पर की थी। राष्ट्रीय ग्राम स्वराज अभियान माननीय प्रधानमन्त्री जी के स्वप्न ''सबका साथ, सबका गाँव, सबका विकास'' को पूरा करने का प्रयास है, ताकि मजबूत पंचायतों को और प्रभावकारी जन भागीदारी के जरिए ग्रामीण क्षेत्रों में अलग-थलग पड़े लोगों तक पहुँचा जा सके। भारत उन गाँवों में बसता है जहाँ लगभग-लगभग 2 लाख 55 हजार पंचायतें और उनके 31 लाख चुने हुए प्रतिनिधि कार्यरत हैं। इसमें भी लगभग 46 प्रतिशत (14.39 लाख) महिलाएँ हैं। यद्यपि संविधान ने राज्यों को अधिकृत किया है कि वे पंचायतों को ग्रामीण स्वशासन की संस्थाओं के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए शक्तियों का हस्तान्तरण कर सकते हैं, यह कहीं-न-कहीं राष्ट्र पिता महात्मा गाँधी से प्रभावित होकर, हमारे देश के प्रधानमन्त्री का यह अह्वान ग्राम स्वराज के मजबूत कदम को दर्शाता है। ●

## सन्दर्भ


1. प्रभु. आर. के. राव, यू. आर. (2012). *महात्मा गाँधी के विचार,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया।
2. मिश्र, अनिल दत्त. (2012). *गाँधी एक अध्ययन,* पियरसन पब्लिकेशन।
3. गुप्त, विश्व प्रकाश, गुप्त मोहिनी. (2006). *महात्मा गाँधी व्यक्ति और विचार,* राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली
4. चोलकर, डॉ. पराग. (2014). *गाँधीजी : जीवन और विचार,* श्री मंगेश प्रकाशन नागपुर।
5. गाँधी, महात्मा. *मेरे सपनों का भारत।*
6. गाँधी, मोहनदास करमचन्द्र, *सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा,* नवजीवन प्रकाशन मन्दिर अहमदाबाद।
7. लक्ष्मी कान्त, एम. (2014). *भारत की राज-व्यवस्था,* McGraw Hill Education (India) Private Limited New Delhi.
8. सिंह, प्रोफेसर महेन्द्र प्रसाद, चौथरी नाथ बासुकी. (2011) *भारतीय शासन और राजनीति,* ओरियण्ट ब्लैकस्वान नई दिल्ली।
9. सिंह, महेन्द्र प्रसाद. राय, हिमांशु (2013) *भारतीय राजनीतिक प्रणाली संरचना, नीति और विकास,* हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
10. महिपाल, डॉ. (2018). कुरुक्षेत्र, पंचायती राज पर विशे. ग्रामीण विकास मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित
    https://www.mkgandhi.org/ebks/village_swaraj.pdf
    https://rural.nic.in/gram-swaraj-abhiyan
    https://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/226913/5/lesson%202.pdf

# साहित्य और सिनेमा

डॉ. पिंकी पारीक

साहित्य, समाज और साहित्यकार का एक-दूसरे से अटूट सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं है। जहाँ तीनों एक-दूसरे के साथ चलते हैं वहीं समाज की भाषा, संस्कृति, लोक-जीवन, धर्म, आचार-विचार साहित्य एवं साहित्यकार को प्रभावित करते हैं।

वर्तमान समय में समाज और साहित्य के साथ सिनेमा भी जुड़ गया है। आज हमे देखते हैं कि जिस तरह से साहित्य समाज के रूप को व्याख्यायित करने का साधन है, साहित्य के बारे में कहा जाता है ''साहित्य समाज का दर्पण है'' बहुत कुछ यह सिनेमा के साथ भी नजर आ रही है। एक समय था जब कि सिनेमा का इतना प्रभुत्व समाज में नहीं था लेकिन वर्तमान समय में सिनेमा भी जीवन का एक हिस्सा बनता जा रहा है। जिस तरह से समाज और संस्कृति का अटूट सम्बन्ध है वहीं किसी-ना-किसी रूप में सिनेमा के माध्यम से भी संस्कृति का प्रचार-प्रसार होता दिखाई देता है। ''समाज की श्रेष्ठता का कारक उसकी अपनी संस्कृति होती है। निःसन्देह जहाँ कतिपय मान्यताओं, परम्पराओं एवं व्यवस्थाओं का संवाहक, मानव-समुदाय विशेष, समाज की संज्ञा से विभूषित होता है वहाँ उसके रीति-रिवाज, लोक-मन अच्छा बनने के लिए अपनाई जाने वाली जीवन-पद्धति, आचरण-व्यवहार, रस्में आदि संस्कृति के रूप में पहचानी जाती हैं। वस्तुतः संस्कृति वह रक्त प्रवाह है जो समाज की धर्म में निरन्तर प्रवाहमान रहकर समाज विशेष की अलग पहचान बनाए रखता है।''[1]

भाषा सिनेमा, सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार का माध्यम है और सिनेमा हिन्दी भाषा, भारतीय सभ्यता और संस्कृति तीनों के प्रचार-प्रसार का साधन है। भारतीय अस्मिता की झलकियाँ हमें हिन्दी सिनेमा में मिलती हैं। भारत को अपने पुरातन ज्ञान, संस्कृति और सभ्यता के आधार पर विश्वगुरु माना गया था। वर्तमान समय में हमारी भाषा, सभ्यता और संस्कृति और विदेशी संस्कृति के बीच हिन्दी सिनेमा एक सेतु का काम कर रहा है। विश्व संस्कृति से संवाद स्थापित करने के लिए सिनेमा ने

हिन्दी विभाग, वनस्थली विद्यापीठ (राज.)

अन्तरराष्ट्रीय मंच पर भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों एवं विविधता को प्रदर्शित करने का असीम प्रयास किया है। मानव मनोरंजन के सभी साधनों में सिनेमा सबसे ऊपर है, क्योंकि इसका आनन्द शिक्षित और अशिक्षित दोनों ले सकते हैं। नाटक विधा जिसका आनन्द भी दोनों वर्गों (शिक्षित और अशिक्षित) के द्वारा उठाया जाता था उससे भी बढ़कर सिनेमा सटीक कल्पनातीत चल-चित्रांकन कर सकता है। रोबोट, टायटेनिक, टार्जन जैसी फिल्में इसका बहुत सशक्त उदाहरण हैं। इसमें कैमरा और कल्पना दोनों का कमाल है।

आज सिनेमा के क्षेत्र में ऐसा मोड़ आया है कि मानवीय संवेदनाओं की सोच और संवेदनाओं के क्षितिज को असीम विस्तार दे रहा है क्योंकि सिनेमा में सिनेमाकार मानवीय संवेदना के ऐसे पक्षों को उद्घाटित करता है कि दर्शन उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, कभी खुशी कभी गम, हम साथ-साथ हैं, हम आपके हैं कौन आदि फिल्मों को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी साहित्य की ही तरह हिन्दी सिनेमा ने भी हिन्दी भाषा भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की पहचान अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सम्पूर्ण विश्व में बनाई है। विश्व की सोच एवं संवेदना को सामाजिक, धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, पारिवारिक और मानवीयता के हर पक्ष को सिनेमाकार मनोरंजन के साथ जोड़ता है, लेकिन यह निर्भर हमारे ऊपर करता है कि सिनेमा रूपी मीडिया की सामर्थ्य ताकतवाले उस जिन्न अलाद्दीन के चिराग को निर्देशक किस रूप में प्रयोग करता है तथा हमारी बुद्धि पर निर्भर करता है कि हम छुरी की धार की ओर से पकड़ते हैं या मूढ़ की ओर से। इसी को स्पष्ट करते हुए कुँवरपाल सिंह लिखते हैं ''मनुष्य एक बहुत सम्मिश्रित जानवर होता है। वर्तमान के मनुष्य में अतीत का मनुष्य भी जिन्दा रहता है। हर व्यक्ति में डार्विन की पूरी किताब जीती और मरती है। अगर ऐसा नहीं होता है तो नई दिल्ली के एक रेस्तरां से एक गुफा क्यों है? ये गुफा हम में बैठे हुए इस मनुष्य को सन्तुष्ट करती है जो गुफाओं में रहा करता था। इसलिए सम्पूर्ण वास्तविकता को पकड़ने का प्रयास करना चाहिए। व्यक्ति समाज का एक अंग है। पूरब तभी तक पूरब है जब तक कि पश्चिम मौजूद है। इसलिए पूरब का पूरा ज्ञान करने के लिए पश्चिम को जानना जरूरी है। परन्तु पश्चिम को जानने का मतलब ये बिल्कुल नहीं है कि खुद पूरब को ही भूल जाए। हमारे वर्तमान कहानीकारों से यही भूल हुई है।[2]

इसी प्रकार सिनेमा जहाँ पर हमारी सांस्कृतिक धारा का संवाहक है वहीं प्रचारक भी है। यहीं कारण है कि समय के साथ परिवर्तन भी सिनेमाई जगत में दृष्टिगत होते रहे हैं। नई सोच एवं नए जमाने के साथ हमारी सोच भी परिवर्तित होती रही है, लेकिन पुराने मूल्य, धर्मों और मान्यताओं को तोड़कर नहीं। आधुनिक विज्ञान धर्मी युग में वह उपलब्ध साधनों व सोच को छूना तो चाहता है लेकिन अपनी मान्यताओं को तोड़कर नहीं। यही कारण है जहाँ उसने अपनी इस सोच को छोड़ने

या त्यागने का काम किया वहीं वह अश्लीलता की श्रेणी में आ जाता है। माना निर्देशक इसको समय की या जनता की माँग कहकर आसानी से अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। लेकिन भारतीय संस्कृति में कुछ तत्त्व हैं जिनको भारतीयता के द्वारा बिलकुल स्वीकार नहीं किया जाता।

सिनेमा की स्वस्थता एवं स्वच्छता दोनों को ही ध्यान में रखते हुए प्रेमचन्द कहते हैं ''सिनेमा अगर हमारे जीवन को स्वस्थ आनन्द दे सके तो उसे जिन्दा रहने का हक है। अगर वह हमारे शुद्ध मनोवेगों को उकसाता है, हममें निर्लज्जता, धूर्तता, कुबुद्धि को बढ़ाता है और हमें पशुता की ओर ले जाता है, तो जितनी जल्दी उसका निशान मिट जाए, उतना ही अच्छा।''[3]

जहाँ साहित्य और सिनेमा दोनों एक-दूसरे को साथ लेकर चलते हुए प्रतीत होते हैं वहीं दोनों में एक बहुत बड़ा अन्तर है कि साहित्य जनरुचि का पथप्रदर्शक होता है, उसका अनुगामी नहीं। सिनेमा जनरुचि के पीछे चलता है, जनता जो कुछ माँगे वही देता है। साहित्य हमारी सुन्दर भावनाओं को स्पर्श करके हमें आनन्द प्रदान करता है। सिनेमा हमारी कुत्सित भावनाओं को स्पर्श करके हमें मतवाला बनाता है और उसकी दवा प्रोड्यूसर के पास नहीं। जब तक एक चीज की माँग है वह बाजार में आएगी। कोई उसे रोक नहीं सकता, अभी वह जमाना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का एक रूप होगा। लोक रुचि जब इतनी परिष्कृत हो जाएगी कि वह नीचे ले आने वाली चीजों से घृणा, करेगी, तभी सिनेमा में साहित्य की सुरुचि दिखाई पड़ सकती है।''[4]

स्पष्ट है कि साहित्य जहाँ पथ-प्रदर्शक बनकर मार्ग-दर्शक का कार्य करता है वहीं बहुत कुछ हद तक सिनेमा एक बार तो व्यक्ति की भावनाओं को उकसाता है बाद में चाहे परिणाम वह प्रायश्चित रूप में ही क्यों ना हो, उदाहरणार्थ—द डर्टी पिक्चर, नमस्ते लन्दन, एतबार आदि में देखा जा सकता है कि जब तक गलती का अहसास होता है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। कहीं-ना-कहीं वर्तमान समय का मनुष्य सिनेमाई जगत से प्रेरणा लेकर वही कार्य कर रहा है जो कि सिनेमा के माध्यम से हमारे सामने आते हैं या देखते हैं। वह भाग मनोरंजन का साधन है लेकिन उससे प्रेरणा लेकर जो वह करता है वह उसमें वास्तविक जीवन से है तथा उसका हर्जाना उसे वास्तविक जीवन में भुगतना पड़ता है। वर्तमान समय में चाहे सिनेमा की प्रेरणा कहें या पश्चिमी संस्कृति के अनुकरण लिव-इन-रिलेशनशिप जैसे मुद्दों ने काफी जोर पकड़ा है लेकिन हकीकत यह भी है कि ये चीजें सिवा कुछ समय सुकून देने के अलावा ताउम्र पछतावे के अलावा कुछ नहीं देती हैं।

अतः स्पष्ट है कि साहित्य बनाम सिनेमा की इस समानुपातिक दौड़ में यदि देखा जाए तो साहित्य जहाँ किसी-ना-किसी रूप में भले वह नारी, वृद्ध, पारिवारिक, बाल-विकास किसी से भी सम्बन्धित हो एक शक्ति एवं प्रेरणास्पद रूप में सामने

आता है, वहीं सिनेमा-जगत के माध्यम से अधिक-से-अधिक मनोरंजन की प्राप्ति करना है। सिनेमा वह माध्यम है जो कि दर्शक को दो नावों में सवार करके चलता है। जिसका सीधा-सा प्रभाव दर्शक पर निर्भर करता है कि वो उस सिनेमा के अच्छे पहलू का अनुसरण करने वाली नाव में सवार होता है या उस पर जो सीधे पतन गर्त की ओर धकेलती ही है साथ-ही-साथ अहसास होने तक बहुत देर हो चुकी होती है।

अतः स्पष्ट है कि सिनेमा बनाम साहित्य कह या साहित्य बनाम सिनेमा हैं। दोनों का पक्ष और उद्देश्य तो एक है लेकिन तरीका अलग है इसका कारण यह है कि साहित्य जिसका आस्वाद शिक्षित व्यक्ति ही रख सकता है लेकिन सिनेमा का आनन्द हर कोई लेता है और यही कारण है कि जिसकी जितनी बुद्धि काम करती है वह उसका प्रयोग उसी के अनुसार करता है। परिणाम उसके लिए बाद की वस्तु मात्र होकर रह जाती है। कुल मिलाकर सिनेमा जहाँ प्रेरणास्पद साबित हो सकता है उसके लिए आवश्यक है निर्देशक एवं दर्शक दोनों की ही सोच को परिवर्तित करने की। फिर सिनेमाई जगत भी एक अच्छे रूप में सामने आकर कहीं-ना-कहीं प्रेरणा का कारक सिद्ध होगा। ●

**सन्दर्भ**


[1] डॉ. राजमणि शर्मा : मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै, पृ.सं. 13

[2] राही मासूम रजा—सिनेमा की संस्कृति, पृ.सं.-182

[3] मदनगोपाल—कलम का मजदूर, पृ.सं. 27

[4] वही, पृ.सं. 27

# भारतीय लोकतन्त्र में दलितों का योगदान

डॉ. अनिल कुमार पासवान

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में दलित सन्दर्भ एक युगान्तकारी सामाजिक परिवर्तन का पर्याय है। कम-से-कम राजनीतिक परिदृश्य में दलित एक तेजी से उभरती सामाजिक शक्ति की तरफ संकेत करता है। राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया, जो आजादी के बाद शुरू हुई थी, इस सन्दर्भ में अधूरी प्रतीत होती है, क्योंकि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दलितों को मुख्य धारा में लाने का काम अभी भी लक्ष्य से कोसों दूर है। भारतीय इतिहास के एक बदनुमा अध्याय के प्रतीक के रूप में दलित आज भी सामाजिक जीवन में सम्मान, प्रतिष्ठा तथा सामाजिक न्याय से वंचित है। तब और अब में सिर्फ इतना ही अन्तर है कि उस समय वे खुले शोषण तथा अत्याचार के विषय थे, अब वे छद्म शोषण, विलगाव और हेय दृष्टि को सामाजिक जीवन झेलने को मजबूर हैं।[1]

संस्कृत का दलित शब्द दल धातु से क्त् प्रत्यय जुड़ने से बना है। संस्कृत साहित्य में इस दल धातु का व्यवहार विदीर्ण अर्थात् फटने के अर्थ में तथा विकास के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[2] सरकारी तौर पर वर्ष 1931 की जनगणना में अस्पृश्य जातियों को ही दलित स्वीकार किया गया। एक विचारक डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन के अनुसार दलित वह है जिसे भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति का दर्जा दिया गया है। अर्थात् अनुसूचित जाति से जो बाहर है, उनकी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति चाहे कितनी भी दयनीय क्यों न हो, वे दलित नहीं हैं।[3]

कँवल भारती के अनुसार दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया हो। जिसे कठोर और गन्दे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जैसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतन्त्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सवर्णों में सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही दलित है। इसके अन्तर्गत वही जातियाँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जाति की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार वर्णवादी व्यवस्था के तहत जिन्हें सदियों से अस्पृश्य करार दिया गया है और अमानवीय व्यवहार का सामना करना पड़ता है, वे दलित हैं।[4] आधुनिक भारत में भारतीय संविधान के तहत जिन्हें अनुसूचित जाति का दर्जा प्राप्त हो, वह दलित है।

शोध-छात्र, ललित ना.मि.वि.वि. दरभंगा, anilpaswan719@gmail.com

आधुनिक भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में दलित वह है, जिसका दारुण, दलन, दोहन एवं शोषण होता रहा है। समाज में जो वंचित, उपेक्षित एवं प्रताड़ित रहा है। शोक जिसका आहार, शत्रु जिसका उदगार और अभिशाप जिसका उपहार रहा हो वही दलित है। बन्धन जिसका कंगन, उत्पीड़न जिसका ईंधन और अधिकार, अपहरण जिसका आलिंगन रहा हो, वही दलित है।

दलित अत्याचार निवारण अधिनियम को हटाने की माँग 1995 में की गई थी।[5] उनका आरोप यह था कि प्रतिष्ठित लोगों के खिलाफ इसका दुरुपयोग किया जा रहा है। उनके समर्थन में बहुत सारे प्रतिष्ठित लोग आने को सहर्ष तैयार थे। इन लोगों का कथन था कि ऐसा कोई ऐक्ट नहीं होना चाहिए तो समाज को तोड़े। इन प्रतिष्ठित लोगों के विचार से वे लोग भी सहमत थे—सामाजिक एवं आर्थिक रूप से विशेषाधिकार का उपयोग करते आ रहे हैं।[6] वर्ष 1995 में ही दलित अधिनियम की वैधानिकता को चुनौती देने वाली तथा 200 याचिकाएँ इलाहाबाद उच्च न्यायालय में दाखिल की गई थीं। इन याचिकाओं में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम, 1989 की धारा 3,4,7,8, एवं 14 को असंवैधानिक घोषित करने की माँग की गई। दलित और सवर्ण राजनीति आज जिस मोड़ से गुजर रही है वह किसी भी स्तर पर समाज को जोड़ने वाली नहीं, बल्कि वह दोनों वर्गों के बीच जातीय दुर्भावना को और भी सुदृढ़ करने का काम करती है।

अंग्रेजी राज्य से 1947 में मुक्ति एवं 1950 में भारतीय गणराज्य की स्थापना भारतीय इतिहास में मील का पत्थर है। भारतीय गणराज्य से उम्मीद थी कि यह भूखे शेर की तरह दकियानूसी समाज पर टूट पड़ेगा और अपने प्रयास से समतामूलक समाज का सृजन करेगा, पर भारतीय गणराज्य समाज के सामने नतमस्तक बना रहा। पराक्रम एवं आक्रामकता इनके चरित्र से क्रमशः विलुप्त होते गए। और उस समाज के भार को ढोते रहना इनकी नियति बन गई है। ये पंक्तियाँ दलित शिक्षा आन्दोलन के संस्थापक द्वारा कही गयी हैं कि यह ग्रन्थ दलित भारतीय दृष्टिकोण से भारतीय राजनीति का स्पष्ट रूप से विवेचन करता है।[7]

20वीं सदी की भारतीय राजनीति चार विशिष्ट चरणों से होकर गुजरी है। जिसमें पहला चरण आजादी के संग्राम काल का, दूसरा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का, तीसरा लोक-कल्याण का तथा चौथा चरण सामाजिक पुनरुत्थान काल का है। आजादी के बाद नेहरू के नेतृत्व में ही राष्ट्र के पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ होता है। नेहरू युग में भारतीय अर्थव्यवस्था का सृजन और विकास इस तरह किया गया कि समाज-व्यवस्था को चोट न पहुँचे। उन्होंने भू-हदबन्दी कानून को सतही और अन्यमनस्क ढंग से लागू किया। नक्सलवाद ने जमीन के सवाल उठाए और भूमिहीन तथा सीमान्त लघु किसानों को आकर्षित किया था।

पंचायती राज को लेखक ने नकारात्मक हस्तक्षेप का क्षेत्र माना है। पंचायती राज और नगर पालिका विधेयक, 1989 राजीव गाँधी सरकार में पारित हुआ, पर नरसिंहा राव की सरकार ने इसे एक प्रभावशाली अधिनियम बनाया।[8] यह पंचायती राज भारतीय राज्य में किस तरह नकारात्मक हस्तक्षेप है, इस पर लेखक का कथन है कि जिला प्रशासन भारतीय राज्य की आधारभूत इकाई है, जिसका प्रमुख कार्य कानून-व्यवस्था को कायम रखना, विकास योजनाओं को लागू करना तथा राजस्व वसूल करना है, किन्तु जिला प्रशासन प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक संस्थाओं से परस्पर विरोधी रूप में सामने आता है। पंचायती राज अधिनियम के कारण स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों का जिला प्रशासन के कार्य में हस्तक्षेप बढ़ेगा, जो पूर्णरूपेण वैधानिक होगा।[9]

तार्किक दृष्टिकोण से भारतीय राज्य की आधारभूत इकाई जिला प्रशासन के अधिकारों पर वैध रूप से अपराधी ठेकेदार स्थानीय स्तर पर सत्ता के दलाल, जो भारतीय समाज के काले पक्ष के प्रतिनिधि हैं, के द्वारा हमला किया जा सकता है। पंचायती राज और नगरपालिका अधिनियम वस्तुतः ग्रामीण आभिजात्य वर्ग को कानूनी सामर्थ्य प्रदान करता है।

यह वर्ग सामाजिक परिवर्तन को रोकने का काम करेगा और राज्य ने पुनः एक बार समाज के पुराने मूल्यों के समक्ष घुटने टेक दिए हैं। अनुसूचित जाति के तीन-चौथाई जोतदार कृषि अर्थव्यवस्था के हाशिए पर हैं। अनुसूचित जाति की श्रमशक्ति का एक बड़ा तबका शारीरिक श्रम या निम्न कोटि के व्यवसायों में लगा हुआ है। 80 प्रतिशत अनुसूचित जाति के छात्रों को अधूरी शिक्षा मिलती है। 1988-90 के शैक्षिक सत्र में 10वीं कक्षा तक 79.89 प्रतिशत अनुसूचित जाति के छात्रों की पढ़ाई बीच में ही छूट जाते हैं।[10]

स्वतन्त्रता के दौरान पिछड़े वर्ग ने भारतीय ग्रामीण सम्पदा, संस्थाओं और राजनीति पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया है जिस पर परम्परागत तौर से उच्च वर्ग का अधिकार रहा है, लेकिन दलितों की स्थिति में कोई विशेष तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। आज परिस्थितियाँ ऐसी हो गई हैं कि शहरी भारत में दलित का प्रत्यक्ष सामना द्विजों से है वहीं ग्रामीण भारत में दलितों का प्रत्यक्ष सामना पिछड़े से है, खासकर पिछड़े में अगड़े से है।[11]

आज लगभग आधी आबादी भूमिहीन कृषक मजदूर हैं तथा आधे से अधिक निरक्षर पर दलित नेतृत्व दलितों की मूलभूत समस्याओं को हल किए वगैर सीधे शासक-वर्ग बन जाने का नारा दे रहा है। केन्द्रीय गृह मन्त्रालय में अपने देश में दलितों और आदिवासियों पर पिछले कुछ वर्षों में अत्याचारों का आँकड़ा प्रस्तुत करते हुए इस बात पर सन्तोष व्यक्त किया है कि इस तरह की घटनाएँ क्रमशः होती रहती है।[12]

बिहार की कुल आबादी का 86-88% व्यक्ति गाँव में रहते हैं। जबकि सम्पूर्ण भारतीय औसत 79.29 प्रतिशत है। राज्य के कुल क्षेत्रफल का सिर्फ 44 प्रतिशत पर ही खेती हो पाती है। बिहार में औसतन जोत की इकाई 0.93 हेक्टेयर है। जब कि भारतीय औसतन 2-3 है। इसके अतिरिक्त यहाँ औसतन 32 से 35 प्रतिशत लोग भूमिहीन मजदूर है, कुछ ऐसे क्षेत्रों में तो यह 5 प्रतिशत से भी अधिक है। जिस कारण उत्पादन के साधन के स्वामित्व में घोर विषमता, अन्याय एवं शोषण को जन्म देती है।[13] बिहार का बड़ा भूमि भाग आज भी सामन्ती व्यवस्था के चपेट में ही भूमि-सुधार के प्रति राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी तथा भूमिहीनों एवं सीमान्तों के शोषण ने वामपन्थी नक्सली संगठनों को फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया था। दलित उत्पीड़न का अर्थ तरह-तरह के सताए गए, दबाए गए तथा कुचले गए लोगों पर अत्याचार हुआ है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन परिवेश में इन लोगों या महिलाओं पर किए गए अत्याचार कोई मायने नहीं रखता है। इन वर्गों में दलित-चेतना का संचार हुआ। इस पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। ●

**सन्दर्भ :**


1. नन्द किशोर साहु-दलित समाज का ऐतिहासिक दस्तावेज, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी-2013, पृ. प्राक्कथन
2. उपर्युक्त, पृ.19
3. उपर्युक्त, पृ.18
4. उपर्युक्त, पृ.19
5. भारतीय किसान यूनियन के अध्यक्ष, महेन्द्र सिंह टिकैत ने 27 जुलाई 1995 में माँग की थी।
6. उपर्युक्त
7. आज दैनिक समाचार-26 जून, 1997, पृ.5
8. अध्यक्ष-श्री चन्द्रभान प्रसाद के हाल में प्रकाशित दलित आँकड़ा बैंक ग्रन्थ विश्वासघात।
9. उपर्युक्त
10. मानव विकास मन्त्रालय के 1993 के प्रतिवेदन के आधार पर।
11. मनोरमा इयर बुक-2001
12. अनिल चमड़िया का लेख-दैनिक जागरण, 21, नवम्बर, 2000 ई.
13. यतीन्द्र शाण्डिल्य एवं डॉ. अरविन्द-बिहार एक खोज, पृ.258

*और अन्त में*

# साहित्य को होना होगा विज्ञान सम्मान

बलराम

सीरिया के विज्ञान कथाकार तालिब ओमरान न सिर्फ भारत, बल्कि भारतीय उपमहाद्वीप की यात्रा करते हुए अपने खास अंदाज में उसे लिपिबद्ध करते रहे। उनका यात्रावृत्त 'थके लम्हों का सफर' भारत पर केंद्रित है, जिसके दूसरे भाग में पाकिस्तान, श्रीलंका, बांग्लादेश, भूटान और म्यांमार की यात्राओं के अनुभव दर्ज हैं। सीरिया के तरतुस बंदरगाह में सन् 1948 में जन्मे तालिब लगभग आधी दुनिया की यात्रा कर चुके हैं। यात्राओं को वे सतय की खोज का जरिया मानते हैं। तरह-तरह के लोगों से मिलकर उनका सत्य जानने का माध्यम होती हैं यात्राएं, जिनसे हम अपना नजरिया कुछ और व्यापक, उदात्त और मानवीय बना सकते हैं। तालिब सीरिया में पैदा जरूर हुए, लेकिन न जाने क्यों भारत उन्हें हमेशा अपने वतन जैसा लगता रहा। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से शायद इसीलिए उन्होंने गणित में डॉक्ट्रेट हासिल की, अन्यथा ब्रिटेन या अमेरिका, कहीं भी जाकर पढ़ाई कर सकते थे, लेकिन भारत की प्राचीन कलाएं और संस्कृति उन्हें बार-बार भारत की ओर खींच लाती रहीं।

अरबी और अंग्रेजी में तालिब की दो दर्जन से अधिक किताबें छपी हैं, जिनमें प्लैनेट ऑफ ड्रीम्स, साउंड फ्राम बॉटम, ट्रैवलर्स बिहाइंड दि सन, लाइट इन दि डार्क सर्कल, देयर इस नो पुअर इन दि मून, पलैनेट ऑफ लाइफ, वर्ल्ड एराउंड अस और ह्वाट इज दि साइंस फिक्शन प्रमुख हैं। तालिब से हमारी मुलाकात कथाकार नासिरा शर्मा के घर हुई थी, जिसका लाभ यह हुआ कि तालिब की अरबी में कही गई बातों का भी तर्जुमा करके नासिरा हमे समझाती गई और रुक-रुककर ही सही, उनसे यह वार्ता हो गई।

**आप ऐसे पहले अरबी कथाकार हैं, जिसने विज्ञान कथाएँ लिखी हैं। आपने विज्ञान कथाएँ लिखना ही क्यों श्रेयस्कर समझा?**

देखिए, मेरी कथाएँ निरी विज्ञान कथाएँ नहीं हैं। वास्तव में तो वे राजनीतिक फंतासियाँ हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओं से पलायन करते हुए

संपर्क : 69 उपकार अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091

मैंने विज्ञान कथा का क्षेत्र नहीं चुना। मेरी कहानियों से मेरे सरोकारों को सहज ही समझा जा सकता है। 'चाँद पर कोई गरीब नहीं' पढ़कर देख सकतेँ कि इसमें मैंने किस तरह धनवानों और साम्राज्यवादियों की धज्जियाँ उड़ाई हैं।

**रचनाकार बनने और प्रतिष्ठित होने के संघर्ष के बारे में कुछ बताएंगे?**

मेरा जन्म गरीब परिवार में हुआ। बारह वर्ष की उम्र में सिर से माँ का साया उठ गया। फिर पिता के साथ ब्राजील जाना पड़ा। बचपन में दादी और बड़ी बहन ने भरपूर स्नेह तो दिया, लेकिन माँ के प्यार की तो बात ही कुछ और होती है। फलतः तन्हाई के क्षणों में किताबें मेरी जिंदगी में दोस्त की तरह शामिल हो गईं। तेरह वर्ष की उम्र में पहली कविता 'रक्त प्रवाह' लिखी, जिसे स्कूल की प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार मिला। प्रोत्साहित होकर ढेर सारी कविताएँ लिखीं, जो एकदम भावुक किस्म की थीं, जिन्हें बाद में आग के हवाले कर दिया। उसके बाद फिर कभी कविताएँ नहीं लिखीं। सन् 1976 में पहली किताब 'वर्ल्ड एराउंड अस' छपी, जिसमें वैज्ञानिक दृष्टि से अपने आस-पास देखने-समझने की कोशिश की है।

**सिर्फ विज्ञान कथाएँ लिखने का कारण क्या रहा?**

समझदार और सजग होने पर मैंने देखा कि न सिर्फ सीरिया, बल्कि ज्यादातर अरब देशों के लोग धर्म के नशे में चूर हैं। कहने को तो वे धार्मिक हैं, पर सांस्कृतिक रूप से निहायत पिछड़े। वैज्ञानिक विचारधारा और प्रगतिशील साहित्य से परहेज कने वाले। बस, मैंने विज्ञान कथाएँ और लेख लिखकर उनकी चेतना को झकझोरने का संकल्प ले लिया। विज्ञान के इस युग में आम साहित्य से काम नहीं चलेगा। साहित्य को यदि समाज का अभिन्न अंग बने रहना है तो जीवन में जिस तरह से विज्ञान का दखल बढ़ रहा है, उसी तरह से साहित्य को भी विज्ञानपरक ही नहीं, विज्ञानोन्मुख भी होना पड़ेगा।

**सीरिया की भाषा, सीरिया की पत्रकारिता, वहां के लोग, वहां के लेखक और उनकी विचारधारा के बारे में कुछ बताएँगे?**

सीरिया की भाषा तो अन्य अरब मुल्कों की तरह अरबी ही है, लेकिन हमारा देश उनकी तरह कट्टर होने की बजाय समाजवादी है। हमारे देश के लोग इजरायल द्वारा हथियाई गई जमीन को तो वापस चाहते हैं, पर वे फिलिस्तीनियों को उनका वाजिब हक भी दिलाने के पक्ष में हैं। हमारे यहां सामाजिक और आर्थिक स्तर पर भारत की तरह जमीन-आसमान की असमानता नहीं है। अधिक से अधिक त्रिस्तरीय समाज है हमारा। सीरिया डेढ़ करोड़ की आबादी वाला छोटा-सा देश है, जहां आठ अखबार छपते हैं। चार साप्ताहिक, चार पाक्षिक और दस मासिक पत्रिकाएँ भी। सीरिया का सबसे बड़ा कवि मोहम्मद माहूद और सबसे बड़ा उपन्यासकार हन्ना मिने है। जकरिया

तामिर भी मशहूर हैं, लेकिन विज्ञान कथाकार पूरे अरब में सिर्फ दो हैं—एक मैं, सीरिया में और दूसरे निहात शरीफ, मिस्र में। मेरे समकालीन लेखकों में हसन यूसुफ, इब्राहीम खलील, नदिया खोस्त और नवील यदीद अच्छा लिख रहे हैं, जिन्हें पाठक पसंद करते हैं।

**अरबी भाषा की स्थिति क्या है। अरब देशों के बीच एक दूसरे के साहित्य को किस तरह लिया जाता है?**

अरबी भाषा का भविष्य उज्ज्वल नहीं। समझदार लेखक इसके लिए चिंतित भी हैं। सभी अरब देखने-सुनने में एक जैसे दिखते जरूर हैं, पर उनमें से कोई किसी की फिक्र नहीं करता। पश्चिम की आँख मूँदकर नकल कर रहे हैं वे। 'खाओ, पिओ और मौज करो' का आदर्श है उनका। सीरिया में किताबों के संस्करण पाँच से दस हजार के बीच छपते हैं, मगर सीरियाई साहित्य को सऊदी अरब के लोग पसंद नहीं करते, क्योंकि वह कुबेरों पर कटाक्ष करता है। कहकर तालिब चुप हो गए, एकदम चुप। ●

# प्रथम मिलन का प्रभाव

सीताराम गुप्ता

प्रथम मिलन बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। कई बार वो हमारे जीवन को पूरी तरह से बदल देता है, रूपान्तरित कर देता है। हमें सातवें आसमान पर पहुँचा देता है। कारण उस समय हम अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शित करने में पूरा जोर लगा देते हैं। जीवन में किसी कार्य में सफलता भी उन्हीं लोगों को मिलती है जो उस काम में अपनी सारी ताकत लगा देते हैं। उसी सम्पूर्ण शक्ति अथवा सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के कारण एक खूबसूरत रिश्ते की शुरुआत होती है। लेकिन यदि वो सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन मात्र दिखावा अथवा दूसरों को मूर्ख बनाने के लिए होता है तो जीवल तमाशा बनकर रहा जाता है। यदि किसी खूबसूरत रिश्ते को स्थायित्व प्रदान करना है अथवा जीवन के अन्य क्षेत्रों में सफलता के पथ पर अग्रसर होना है तो प्रथम मिलन के सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन को चिरस्थायी बनाना अनिवार्य है। इसके लिए प्रथम मिलन के अवसर पर जिस शिष्टाचार, विनम्रता, स्वच्छता व सौन्दर्य-बोध का परिचय दिया था उसे नियमित रूप से व्यवहार में लाना ही होगा।

कहते हैं कि प्रथम प्रभाव या पहली छवि चिरस्थायी होती है। फर्स्ट इम्प्रैशन दज द लास्ट इम्प्रैशन। इसलिए जब भी हम किसी से पहली बार मिलते हैं तो बहुत सतर्कता से काम लेते हैं और मिलने वाले पर अपना अच्छे-से-अच्छा प्रभाव छोड़ने में कोई कसर नहीं रख छोड़ते। सलीके से साफ-सुथरे कपड़े पहनते हैं। धूम्रपान नहीं करते। प्रयास करते हैं कि मुख अथवा वस्त्रों से किसी भी प्रकार की अप्रिय गन्ध न आने पाए। शिष्टाचार ही नहीं तमाम औपचारिकताओं का भी पूरी तरह से निर्वाह करते हैं। पहली बार मिलने वाले से ही नहीं उस समय वहाँ उपस्थित अन्य सभी से भी अत्यन्त विनम्रता से पेश आते हैं। क्रोध जैसी चीज आस-पास नहीं फटकने पाती। ऊँची आवाज में बात करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। सहयोग की भावना का प्रदर्शन ही नहीं वास्तविक सहयोग करने के लिए भी तत्पर रहते हैं। आदर्शों की बात करते हैं। यथासम्भव नैतिकता का दामन थामे रहते हैं।

पहली बार किसी के साथ भोजन करना पड़ जाए तो न केवल अत्यन्त शिष्टतापूर्वक भोजन करते हैं अपितु सही मात्रा में भी करते हैं। घर हो या होटल

*ए.डी. 106-सी, पीतम पुरा, दिल्ली-110034, मो.-09555622323,
Email : srgupta54@yahoo.co.in

भोजन परोसने वाले से भी सम्मान से पेश आते हैं। विषम परिस्थितियों में कोई अप्रिय घटना घटित हो जाए तो भी प्रतिक्रिया व्यक्त करने की बजाय शान्त-सौम्य बने रहते हैं। कहने का तात्पर्य ये है कि हम स्वयं को एक बहुत अच्छे इन्सान के रूप में पेश करने की पूरी कोशिश करते हैं। एक आदर्श और सुसभ्य व्यक्ति के रूप में। लेकिन वास्तविकता ये भी हे कि यदि हमारा व्यवहार बदलता है तो मात्र फर्स्ट इम्प्रैशन अथवा प्रथम प्रभाव के आधार पर हम कितने दिन तक लोगों को प्रभावित कर पाएँगे। जैसे ही हमारा व्यवहार बदलेगा न केवल लोगों का व्यवहार और प्रतिक्रिया बदल जाएगी अपितु उसका नकारात्मक प्रभाव भी लोगों पर पड़ेगा।

प्रश्न उठता है कि क्या हम अच्छे इन्सान नहीं होते या हैं? निस्सन्देह हमसे अच्छा कोई नहीं हो सकता यदि हम अपनी इन सभी आदतों अथवा व्यवहार को हमेशा प्राथमिकता दें, उन सभी आदतों अथवा व्यवहार को जीवन में स्थायी रूप से अपने आचरण में सम्मिलित कर लें जो किसी से पहली बार मिलने पर हम व्यवहार में लाते हैं। ये कठिन अवश्य हो सकता है असम्भव नहीं। मैं ऐसे अनेक व्यक्तियों को जानता हूँ जो हर बार हमेशा बड़े उत्साह से मिलते हैं और यथोचित अभिवादन करते हैं। आगे से पहले बोलने का प्रयास करते हैं। यदि कोई व्यक्ति मिलने पर हर बार अभिवादन करने की पहल करता है तो उसका कुछ घट नहीं जाता अपितु लोग उसे पसन्द करने और उसका मन से सम्मान करने लगते हैं। इसी प्रकार से दूसरी अच्छी आदतों और व्यवहार का सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है।

कई लोग मानते हैं कि जब हम किसी से पहली बार मिलते हैं तो उस पर अच्छा प्रभाव डालना सम्भव है लेकिन रोज-रोज शिष्टाचार का पालन करना सँभव नहीं। अत्यधिक शिष्टाचार से जीवन में सहजता नहीं रहती। व्यवहार में एक कृत्रिमता-सी आ जाती है। ये बात किसी भी तरह से ठीक नहीं है। रोज-रोज सन्तुलित व पौष्टिक भोजन करने से क्या हमारा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता? लोगों का ये भी मानना है कि शिष्टाचार, सद्गुण अथवा अच्छी आदतें जन्मजात होती हैं उन्हें बाद में नहीं सीखा जा सकता जो अत्यन्त भ्रामक विचार है। कुछ विशेषताएँ जन्मजात होती हैं लेकिन अधिकांश आदतें हम अपने परिवेश से सीखते हैं। हम प्रयास करके अपने जीवन में अच्छी आदतों को स्थान दे सकते हैं। इसका उलटा भी उतना ही सही है।

कहा गया है मनुर्भव। क्या हम मनुष्य नहीं हैं? मनुष्य बनना पड़ता है। अच्छी आदतें ही हमें मनुष्य बनाने में सक्षम हैं। जब तक हममें अच्छी आदतें हैं हम मनुष्य हैं। जब हममें अच्छी आदतों के स्थान पर बुरी आदतें अथवा विकार आने प्रारम्भ हो जाते हैं तो हम मानव से दानव होने की प्रक्रिया में आ जाते हैं। हमें न केवल अच्छे लोगों की अच्छी आदतों का अनुकरण करके स्वयं में अच्छी आदतें विकसित करनी चाहिए। अपितु उन आदतों को निरन्तर व्यवहार में लाकर अपने परिवेश को भी सकारात्मक रूप से प्रभावित करने का प्रयास करते रहना चाहिए जिससे पूरा समाज शिष्टाचार के दायरे में सम्मिलित हो जाए।

जब हम किसी से पहली बार मिलने पर अच्छी तरह से पेश आ सकते हैं तो बाद में अथवा हमेशा क्यों नहीं? यदि पहली बार मिलने पर अच्छा प्रभाव छोड़ना मात्र नाटक है तो इस नाटक को बार-बार क्यों नहीं दोहराया जा सकता? अच्छाई अथवा अच्छा प्रभाव डालने के इस नाटक को इतनी बार दोहराइए कि वो जीवन की वास्तविकता बन जाए। यदि हम ऐसा कर पाएँगे तो नुकसान नहीं लाभ ही होगा। हम अच्छी आदतों व व्यवहार के अभ्यस्त हो जाएँगे। यही मनुष्य का वास्तविक विकास व रूपान्तरण है। हमें हर हाल में हमेशा ही अपने अच्छे व्यवहार से लोगों पर अच्छा प्रभाव डालना चाहिए और इसके लिए स्वयं को महत्त्व न देकर जो व्यक्ति हमें ये अवसर उपलब्ध करवाते हैं उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

यही कारण है जब भी हम किसी व्यक्ति से पहली बार मिलते हैं तो बहुत अच्छी तरह से उनका अभिवादन करने का प्रयास करते हैं। उस समय हम पूर्ण शिष्टाचार का पालन करते हुए चेहरे पर मुस्कान भी बनाए रखते हैं। साथ ही भावों के अनुरूप हमारी बॉडी लैंग्वेज भी अत्यन्त अनुकूल व सकारात्मक बनी रहती है। लेकिन जैसे-जैसे हमारा मिलना-जुलना आम हो जाता है हम न केवल इन सब बातों की परवाह करना छोड़ देते हैं अपितु कई बार उपेक्षात्मक तरीके से भी पेश आने लगते हैं। अभिवादन करना तो दूर दूसरे के अभिवादन का ठीक से उत्तर भी नहीं देते। आखिर क्यों? क्योंकि हम एक दूसरे की कमियों को जान लेते हैं और उसी के अनुरूप व्यवहार करना प्रारम्भ कर देते हैं। हमें इस प्रकार के व्यवहार से बचना चाहिए। हमें दूसरों के दोष अथवा कमिया देखने के बजाय अपने व्यवहार के बारे में अधिक सतर्क रहना चाहिए। दूसरों के व्यवहार के कारण हम अपना व्यवहार क्यों बिगाड़ें अथवा अपने व्यक्तित्व को कमजोर क्यों करें?

हम अपने व्यवहार के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं दूसरों के व्यवहार के लिए नहीं लेकिन अपना व्यवहार बदलकर निश्चित रूप से दूसरों को बदलने का अवसर ही प्रदान करते हैं। दूसरों के व्यवहार के कारण हमारा व्यवहार बदल न जाए इसके लिए अनिवार्य है कि हम हर व्यक्ति से हर बार ये सोचकर ही व्यवहार करें जैसे आज पहली बार उससे मिल रहे हैं। इससे न केवल सम्बन्धों में आत्मीयता व गरमजोशी बनी रहेगी अपितु लगातार सकारात्मक रहने के कारण मिलने वाले लाभ भी हमें अनायास ही मिल जाएँगे। जब हम किसी को दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं तो इससे हमें स्वाभाविक रूप से व्यायाम में लाभ व मुस्कराकर किसी का स्वागत करते हैं तो ध्यान के लाभ मिलते हैं। बार-बार हमारी मनोदशा सकारात्मक होने से हम स्वस्थ व तनावमुक्त रहते हैं।

यदि हम किसी के साथ कोई अच्छाई करते हैं तो हमें प्रसन्नता होती है। किसी का स्वागत-सत्कार करने से भी कम प्रसन्नता नहीं मिलती? यदि हम हर मिलने वाले का हर बार मन से स्वागत-सत्कार करेंगे तो हमारी प्रसन्नता में वृद्धि ही होगी। यही प्रसन्नता हमारे अच्छे स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होती है। जब हम किसी से पहली बार

मिलने जाते हैं तो अपना अच्छा प्रभाव डालने के लिए उस समय न केवल अच्छे-से-अच्छे कपड़े-जूते पहनते हैं अपितु सही तरीके से भी पहनते हैं। शेविंग वगैरा भी ठीक से करते हैं। इन बातों का सामने वाले पर निश्चित रूप से अच्छा प्रभाव पड़ता है लेकिन यदि हम चाहते हैं कि हमारा अच्छा प्रभाव हमेशा के लिए बना रहे तो हमें इन आदतों को स्थायी रूप से अपना लेना चाहिए। इन आदतों से हमारी दिनचर्या व जीवनचर्या भी व्यवस्थित होती है जो स्वयं में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

इसी प्रकार से नम्रता हो अथवा सहनशीलता इन विशेषताओं को भी अपने व्यवहार में स्थायी रूप से सम्मिलित करने से लाभ ही होगा। यदि हम पहली बार किसी से मिलने पर भोजन करते समय शिष्टाचार का पालने करते हैं तथा सही मात्रा में ही भोजन लेते हैं तो हमारे लिए लाभदायक होगा। हम स्थूलकायता व उसके दुष्प्रभावों से बचे रहेंगे। इसी प्रकार से यदि हम पहली बार मिलने पर धूम्रपान नहीं करते अथवा स्वच्छता का विशेष ध्यान रखते हैं तो हर बार मिलने पर इन बातों का ध्यान रखने से तो जीवन में क्रान्ति ही हो जाएगी। अनेक दोषों से सहज ही छुटकारा मिल जाएगा जिससे हमारा व्यक्तित्व हमेशा के लिए प्रभावशाली बना रह सकेगा। प्रभावशाली व्यक्तित्व के विकास में लोगों के प्रति हमारा व्यवहार व हमारी दूसरी आदतें ही महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं।

जहाँ तक किसी से पहली बार मिलने का प्रश्न है वास्तव में जब भी हम किसी से मिलते हैं वो एक नया क्षण ही होता है। हर क्षण ही नहीं हर क्षण हर व्यक्ति भी पूर्ण रूप से नया व्यक्ति ही होता है क्योंकि हम हर क्षण परिवर्तित होते रहते हैं। यदि हर बार इस परिवर्तित नए व्यक्ति से मिलते समय हम उस पर अपना अच्छा प्रभाव छोड़ने का प्रयास करें तो सचमुच हमारा जीवन बदल जाए। उन्नत हो जाए। ये हर तरह से हमारे हित में होगा कि हम न केवल अपने फर्स्ट इम्प्रैशन अथवा प्रथम प्रभाव को चिरस्थायी बनाने का प्रयास करें अपितु उसे और अधिक अच्छा बनाएँ। जीवन अथवा व्यवहार में अच्छी बातों अथवा आदतों को सम्मिलित करने का इससे प्रभावशाली और अच्छा तरीका और क्या हो सकता है? और इससे अच्छा अवसर और कहाँ मिलेगा?

इस सम्बन्ध में एक बात और है जो बहुत महत्त्वपूर्ण लगती है। यदि किसी कारण से किसी व्यक्ति पर हमारा फर्स्ट इम्प्रैशन अथवा पहला प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा तो क्या हम उसके लिए पुनः प्रयास करें अथवा नहीं? जीवन में असफल होने पर हम हाथ पर हाथ रख कर नहीं बैठ जाते अपितु सफलता के लिए पुनः प्रयास में जुट जाते हैं। यह हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य भी है। यदि किसी कारण से किसी व्यक्ति पर हमारा फर्स्ट इम्प्रैशन अथवा पहला प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा तो हमें तब तक प्रयास करना नहीं छोड़ना चाहिए जब तक कि उस व्यक्ति पर हमारी सही छवि अंकित न हो जाए। जब हर हाल में लोगों पर अपेक्षित अच्छा प्रभाव छोड़ना महत्त्वपूर्ण है तो फर्स्ट इम्प्रैशन अथवा पहले प्रभाव को चिरस्थायी बनाना उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण व उपयोगी है इसमें सन्देह नहीं। ●

# प्रतिक्रिया

## प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय

**वैचारिकी की अनूठी पत्रिका**

एक विहंगावलोन प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय इस पत्रिका की गहरी प्रतीक्षा रहती है। आने में विलम्ब होता है तो मन व्याकुल हो जाता है। निबन्ध-रचना को मानते हैं रमेशचन्द्र शाह सांस्कृतिक ऋणबोध का अनूठा सबका निर्मल वर्मा का मानना है कि आधुनिक सभ्यता के संकट से मानवोद्धार बुद्धिजीवियों के हाथ में है। कारण, उनकी भूमिका निर्णायक होती है जो स्वयं बुद्धि को बोध और बोध को आत्मबोध के उत्तरोत्तर विकासमान सोपानों में रख पाए। आज हम अतीत के प्रति प्रत्यावर्तन करते हैं, तो बीसवीं शती के अन्त में समस्त क्रान्तियों के खण्डहर दिखाई पड़ते हैं। इसके पीछे है बुद्धिजीवियों की भूमिका। इसका खुलकर विरोध किया मनीषियों ने। दास्ताएबस्की के उपन्यास 'द डेविल्ज' में बुद्धिजीवियों के इस पैशाचिक खेल का रोमांचक वर्णन है।

साहित्य की सारी विधाएँ जीवन को ही अनावृत्त करती हैं। किसी भी विधा की रचनाएँ हमको पूर्णतया अनावृत्त कर देती हैं। कहीं कुछ भेद नहीं रह जाता है। निबन्ध तो सर्वत्र है। जहाँ विवरण है, लेखा-जोखा है, वहीं निबन्ध है। यह सब विचार करते हुए निबन्ध, निर्मल वर्मा का जीवनगण की विविधता, उसके संघर्ष और निबन्धों की भूमिका पर विरमा गया है। उनका लेखन इतना पाण्डित्यपूर्ण और गम्भीर है, जिस पर विचार करना एक लम्बा लेख तैयार करना है।

डॉ. कमल किशोर गोयनका न केवल प्रेमचन्द साहित्य के उद्भट विद्वान हैं, मॉरीशस की साहित्यिक गतिविधियों और उनके साहित्य पर भी उनका आधिकारिक ज्ञान है। उनका मानना है कि मॉरीशस के सूरज प्रसाद मंगर (एस.एम.) को सर्वप्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन कराने का विचार आया, जिसका परिणाम समक्ष है। चालीस वर्षों तक ये हिन्दी प्रचार-प्रसार में लगे रहे। आज यह हिन्दी के विकास की ध्वजा फहरा रहा है।

जीवन में जिस गति से राक्षसी वृत्ति, (खून फसाद दंगा, युद्ध, कत्ले आम) फलफूल रही है, उस गति से मानवता के त्राण हित प्रयास नहीं हो रहा है। आज

वर्चस्व की लड़ाई है—हम बड़े कि हम बड़े। बड़प्पन क्या? हथियारों का जखीरा जिसके पास जितना, विध्वंस जो जितना करा पाए, वही बड़ा। इस विषम परिस्थिति में प्रो. डी.एन. प्रसाद का तर्क गाँधी विचार के स्वरूप को निर्धारित करना तथा उसे पाठ्यक्रम में रखना बड़ा युक्तिसंगत और मानव-हितकामी लगता है।

उनका मानना है ''गाँधी विचार विषय की विविधता लिये हुए विशाल वट वृक्ष है। वट वृक्ष का अवलोकन, अध्ययन किस सिरे से किया जाए कि शून्य से सम्पूर्णता की प्राप्ति हो, यह पाठ्यक्रम निर्माण की क्रमगतता और विषय के आयाम पर निर्भर करता है।'' (पृ.19)

प्रो. राजीव रंजन उपाध्याय, का लेख बड़ा शोधपरक, प्रेरक और हगोन्मीलक (आँख में उँगली डालकर दिखाने वाला) है कि प्राचीन ब्रिटेन में सूर्योपासना होती थी। विलियम शेक्सपियर ने अपनी कृति सिम्बेलाइन (Cymbaline) में इसकी चर्चा इस प्रकार की है :

We must lay his head to the east ! My father hath a Sreason for in.
(सिम्बेलाइन : द कंप्लीट वर्क्स ऑफ विलियम शेक्सपियर, पृ. 146-152)

Psalm (साम) को ईश्वर की गेय उपासना माना जाता है। यह संस्कृत के 'साम' शब्द से निःसृत है। इस प्रकार हमारे भारतीय धर्म, दर्शन, मिथक, पुरातत्त्व किस प्रकार पश्चिमी साहित्य में भी अभिव्यक्त हुए हैं, यह विचारणीय है। ●